देखी सुनी

वर्ष 2009, अंक 9

प्रिय साथियों,

अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस शताब्दी की हार्दिक शुभकामनाएं।
इस बार के अंक में हमने 8 मार्च से जुड़ी कुछ खास खबरों को विशेष चार अतिरिक्त पन्नों में पिरोया है, आशा करते है आप सबको हमारा यह प्रयास पसन्द आएगा। कृपया अपनी प्रतिक्रियाओं द्वारा हमारा उत्साह वर्धन व मार्गदर्शन करें।

जागोरी संदर्भ समूह

डिज़ाइन : बिंदिया थापर

हो हमारा एक ही नारा
साल का हर दिन हो हमारा !

8 मार्च-हमेशा ही अपना दिन मनाने व हमारे संघर्षो में रंगा रहता है। 8 मार्च 1857 को न्यूयार्क में कपड़ा मिल में काम करने वाली महिलाओं ने अपने बेहतर वेतन और कार्यस्थल की बेहतर स्थितियों की मांग को लेकर संघर्ष शुरु किया था। 1908 में दोबारा-15000 महिलाओं ने कुछ और माँगों के साथ-साथ वोट देने के अधिकार की मांग की थी। पहले विश्व युद्ध के दौरान इसी दिन 1913 को-पूरे यूरोप की महिलाओं ने शान्ति मार्च किया था और 1917 के रूसी इन्कलाब को-अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर होने वाले प्रदर्शन ने दहला कर रख दिया।

8 मार्च एक ऐसा दिवस है जब हम अपनी ज़िन्दगी में नई ताकत और नया जोश वापस लाते हैं। कई बार लगता है हमारे संघर्ष हमसे बड़े हैं या समाधान हमारी पहुँच से बाहर है। लेकिन जब हम गुस्से से अपनी मुट्ठी बुलन्द करते हैं और विरोध में अपनी आवाजें उठाते हैं तो लोग हमारी बातों को सुनने पर मजबूर हो जाते हैं।

यह एक अच्छा समय है जब हम अपनी कुछ कामयाबियों को याद करते हुए अपनी खुशियों को और बढ़ाएं।

महिलाओं के संगठित प्रतिरोध का प्रतीक दिवस

रंजना कुमारी

करीब एक सौ साल पहले महिलाओं के संगठित प्रतिरोध की शुरुआत के साथ आरंभ हुई यात्रा अब अपने सबसे महत्वपूर्ण दौर में प्रवेश कर गई है। दुनिया बड़ी तेजी से बदल रही है, इस बदलाव में महिलाओं को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। उन्हें बराबरी का दर्जा हासिल करने की निर्णायक लड़ाई लड़नी है। इसी लड़ाई का रोडमैप अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के दिन तैयार किया जाना चाहिए।

दुनिया भर में हर दिन कोई न कोई दिवस मनाया जाता है, जिनमें से ज्यादातर एक सालाना औपचारिकता से अधिक कुछ नहीं होते हैं। इसके कुछ गौरवशाली अपवाद हैं यानी ऐसे दिवस जिनका वास्तव में कुछ अर्थ होता है और जिन्हें हर साल मनाने से जमीनी स्तर पर कुछ हासिल होता है। अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस ऐसा ही एक अपवाद है। अमेरिका में इसकी शुरुआत ही महिलाओं के संगठित प्रतिरोध को प्रदर्शित करने के लिए हुई थी। करीब सौ साल पहले हुए इस प्रतिरोध का हासिल तत्काल दिखने लगा था। उसके बाद पिछले सौ साल में जो बदलाव हुए हैं, उन्हें लाने में महिलाओं के संगठित प्रतिरोध की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसलिए अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस इस प्रतिरोध को प्रतीकित करने के लिए पूरे जोश के साथ मनाया जाना चाहिए।

पर यह दिवस आत्ममुग्धता को प्रदर्शित करने वाला दिवस बन कर नहीं रह जाना चाहिए। यह सही है कि पिछले कुछ समय में महिलाओं की स्थिति और हैसियत में काफी अच्छा बदलाव आया है। अमेरिका में हिलेरी क्लिंटन की दावेदारी से पहली महिला राष्ट्रपति की उम्मीद जगी है तो भारतीय मूल की सुनीता विलियम्स के अंतरिक्ष में लंबी मौजूदगी से भी महिलाओं की स्थिति का एक नया आयाम रेखांकित हुआ है। पाकिस्तान की मुख्तार माई के संघर्ष ने महिला प्रतिरोध को नई दिशा दी है। इंदिरा नूई ने कारोबारी जगत में हलचल मचाई तो सानिया मिर्जा ने भारतीय महिलाओं को गर्व करने के अनेक क्षण उपलब्ध कराए।

इसके अलावा भी अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे महिला सशक्तिकरण की चमकती हुई उजली तस्वीर दिखाई देती है। आज कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहां महिलाएं पुरुषों के साथ कदमताल करती हुई नहीं चल रही हैं। पर इस उपलब्धि से आत्ममुग्ध होने की जरूरत नहीं है। इन उपलब्धियों के आधार पर इस साल को महिला सशक्तिकरण की दिशा में मील का पत्थर माना जा रहा है। पर मुझे लगता है कि यह विरोधाभासों का साल रहा है। एक तरफ तो हम ऊपर गिनाए गए रोल मॉडल्स को देख रहे हैं, जिनसे प्रेरणा लेकर ज्यादा से ज्यादा महिलाएं उस मुकाम तक पहुंचने के संघर्ष में शामिल हो रही हैं तो दूसरी और उनकी राह में आने वाली बाधाएं भी दिखाई देती हैं। यूनिसेफ ने अपने एक हालिया आकलन में बताया है कि भारत में हर दिन सात हजार अजन्मी बच्चियां कोख में ही मार दी जाती हैं। यह यह संख्या एक कंजरवेटिव आकलन पर आधारित है, वास्तविक संख्या इससे कहीं ज्यादा होगी। अफसोस की बात है कि आर्थिक समृद्धि ने इसमें कमी लाने की बजाय इसमें बढ़ोतरी की है।

देश के विकसित राज्यों में लिंगानुपात देखकर ऐसा ही आभास होता है। ऐसा ही एक अध्ययन है, जिसमें बताया गया है कि आदिवासी और दलित महिलाओं में से 70 फीसदी महिलाएं अशिक्षित हैं। पूरी आबादी में अशिक्षित महिलाओं की संख्या शिक्षित महिलाओं से ज्यादा है। मातृत्व मृत्यु दर (एमएमआर) भारत में काफी ज्यादा है और शिशु मृत्यु दर (आईएमआर) भी अपने यहां काफी है। हाल में सामने आए एक अध्ययन में गरीबी के स्त्रीकरण की बात कही गई है। यानी देश की महिलाएं पुरुषों के मुकाबले ज्यादा गरीब हैं। नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे में बताया गया है कि भारत की एक तीसरी विवाहित महिला घरेलू हिंसा का शिकार है। भारत में दशकों पहले महिला प्रधानमंत्री बन गई, लेकिन विधायिका में महिलाओं को 33 फीसदी आरक्षण देने का प्रस्ताव सालों की जद्दोजहद के बाद आज भी लटका हुआ है। ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिन्हें राह चलते देखा और महसूस किया जा सकता है। इन्हें ठीक करना और महिलाओं को बराबरी का दर्जा दिलाना एक बड़ी चुनौती है।

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस को इसलिए चुनौती दिवस के रूप में मनाना चाहिए। आम महिलाओं को यह समझना होगा कि जो रोल मॉडल्स उनके सामने हैं, वे उनकी तरह की पृष्ठभूमि से नहीं आई हैं। उन्हें अपनी विशिष्ठ पृष्ठभूमि का लाभ मिलता है। उनमें से ज्यादातर अपने निजी संसाधनों और प्रयासों से बड़ी उपलब्धियां हासिल कर पाती हैं। वे अपवाद होती हैं। ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि ऐसे अवसर सभी महिलाओं को मिले। करीब एक सौ साल पहले महिलाओं के संगठित प्रतिरोध की शुरुआत के साथ आरंभ हुई यात्रा अब अपने सबसे महत्वपूर्ण दौर में प्रवेश कर गई है। दुनिया बड़ी तेजी से बदल रही है, इस बदलाव में महिलाओं को महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्हें बराबरी का दर्जा हासिल करने की निर्णायक लड़ाई लड़नी है। इसी लड़ाई का रोडमैप अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के दिन तैयार किया जाना चाहिए। दक्षिण एशिया के देशों में तस्वीर बहुत धीरे-धीरे बदल रही है। भारत में पंचायतों में आरक्षण मिलने से कुछ बदलाव दिख रहा है। यह एक शुभ लक्षण है। पर जब तक यह बदलाव हर आम और खास के लिए एक समान नहीं होता है, इसका सामान्य भारतीय महिला के लिए कोई अर्थ नहीं है।

(लेखिका महिला आंदोलन से संबद्ध हैं)

महिलाएं आत्मनिर्भर जरूर हैं, पर परंपरा के नाम पर पुराने मूल्य आज भी हावी हैं

पुरुषवादी मानसिकता है औरत की दुश्मन

महिला दिवस

नमिता सिंह

पढ़े-लिखे प्रबुद्ध और संवेदनशील समझे जाने वाले लोगों के बीच भी अकसर बहस के दौरान एक सामान्य-सा लगने वाला फिकरा तैरता रहता है कि औरत ही औरत की दुश्मन है। 'स्त्री विमर्श' या 'स्त्रियों के लिए न्याय' जैसे विषयों पर व्याख्यान में चर्चा के दौरान पुरुष वक्ताओं की ओर से यह मुद्दा जोर-जोर से उठाया जाता है कि अव्वल तो यह कहना गलत है कि स्त्रियां हीन अवस्था में हैं या उनकी सामाजिक स्थिति निम्नतर है, और अगर ऐसा है भी, तो वे स्वयं अपनी हीन अवस्था के लिए जिम्मेदार हैं। इसलिए इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि यह विषय व्यापक चर्चा की मांग करता है। समस्या को उसके मूल से पकड़े बिना सही नतीजे पर नहीं पहुंचा जा सकता।

ब्रिटिश राज के बाद स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र स्थापित हुआ, तो सैद्धांतिक रूप से स्त्री-पुरुष को समाज में समान स्थान मिला। आज संविधान में दोनों के लिए समान अधिकार हैं। शिक्षा और व्यवसाय के समान अवसर स्त्री-पुरुष के लिए उपलब्ध हैं। यह अलग बात है कि पूरी आर्थिक व्यवस्था के संतुलित न होने तथा अन्य अनेक कारणों से शासकीय नीतियों का व्यावहारिक लाभ समाज के सभी वर्गों तक नहीं पहुंचा है। लेकिन सैद्धांतिक रूप में स्त्री-पुरुष के बीच घर-परिवार और समाज के अन्य क्षेत्रों में भेदभाव नहीं है। स्त्री साक्षरता की दर नौ प्रतिशत से बढ़कर आज 48-50 प्रतिशत तक हो गई है। आज महिलाएं अपनी मन मरजी की जिंदगी बिताने का अवसर प्राप्त कर रही हैं। उनमें आत्मविश्वास आया है और वे आत्मनिर्भर हुई हैं। इसके बावजूद पुरानी व्यवस्था की स्मृतियां परंपरा के रूप में अब भी घर-परिवार में मौजूद हैं। पुरानी आदतों के कारण अब भी बहुओं से खास तरह के व्यवहार की आशा की जाती है। जब औरत सास बनती है, तो वह अपनी बहू को उसी रास्ते से, उन्हीं कष्टकारी स्थितियों से गुजारना चाहती है, जिनसे होकर वह गुजरी थी। आज भी परंपरागत रूप से मांएं अपने बेटे और बेटी को समान व्यवहार नहीं दे पातीं। शिक्षित और संपन्न घरों में भी बेटे और बेटी के प्रति व्यवहार में भेदभाव किया जाता है। जो घर-गृहस्थी का उत्तम है, वह बेटे के लिए और शेष बचा हुआ बेटी के हिस्से में जाता है।

लड़कियों के प्रति भेदभाव हो या सास-बहू के बीच मतभेद, गलती उस परंपरागत संस्कार की है, जो औरतों को हजारों वर्षों से पढ़ाया जाता रहा है। पुत्र और पति सेवा का पाठ समाज उसे हमेशा से पढ़ाता रहा है। अब एक ओर पुराने संस्कार, पुरानी आदतें और परंपरागत व्यवहार, तो दूसरी ओर, नया जमाना, नई शिक्षा, नई चेतना, जनतांत्रिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष को प्राप्त समान अधिकार और समान अवसर का सिद्धांत। ऐसे में, टकराव हो, तो औरत बनाम औरत का संघर्ष बन जाएगा। लेकिन शिक्षित और चेतनासंपन्न दृष्टिकोण रखकर धैर्य के साथ परिवर्तनकारी व्यवहार अपनाकर स्त्रीहीनता के इस परंपरागत व्यवहार और परिवार के भीतर के स्त्री संघर्ष को दूर किया जा सकता है। आज स्त्री आर्थिक रूप से परतंत्र नहीं, आत्मनिर्भर है, इसलिए उसे न बहू से और न सास से भयभीत होने की जरूरत है। समाज की आर्थिक संरचना में योगदान करने वाली स्त्री आज एक स्वतंत्र इकाई है। जब उत्पादन के साधनों पर स्त्री के लिए बराबर की हिस्सेदारी सुनिश्चित होती है, तो न सिर्फ स्त्री बनाम स्त्री संघर्ष समाप्त हो जाता है, बल्कि स्त्री बनाम पुरुष संघर्ष भी समाप्त होने लगता है। दरअसल जिसे हम स्त्री बनाम स्त्री मुकाबला समझते हैं, अंततः उसके मूल में स्त्री बनाम पुरुष की अवधारणा है, जहां पुरुष मालिक और स्त्री उसकी मिल्कीयत है। इस अवधारणा को बनाए रखने का आरोप स्त्री और पुरुष, दोनों पर है।

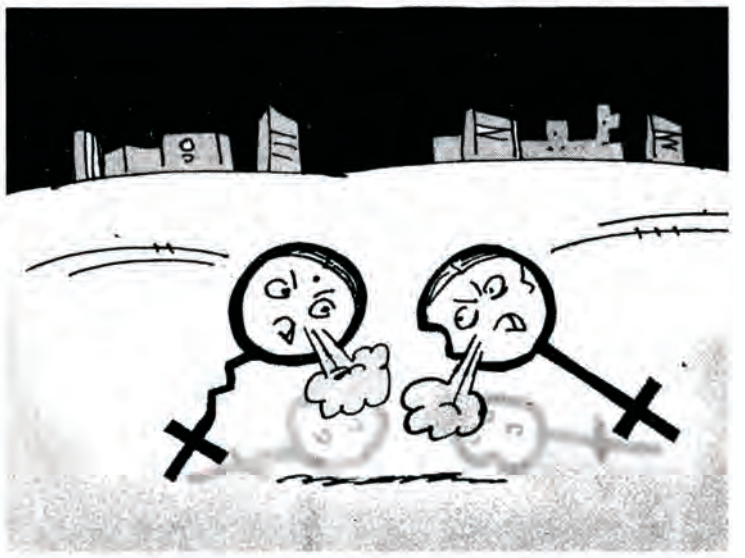

पुरुष नियंत्रित सामंती सामाजिक व्यवस्था के नई जनतांत्रिक व्यवस्था में तबदील हो जाने से पुरुष समाज को सबसे ज्यादा कष्ट हुआ है। घर में पढ़ी-लिखी और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर पत्नी है। उसकी अपनी सोच है। घर से बाहर कार्यक्षेत्र में भी पुरुष की बराबरी में स्त्रियां हैं, जो सहयोगी हैं और अकसर अधिक प्रतिभासंपन्न हैं। हो सकता है कि महिला अधिकारी के नीचे नौकरी करनी पड़ती हो। बदली हुई परिस्थितियों से सामंजस्य भी जरूरी है। इन परिस्थितियों में उसके भीतर के संस्कार और परंपरागत वर्चस्ववादी व्यवहार उसे दुविधापूर्ण संघर्ष में लपेट लेता है। पुरुष समाज किसी स्त्री के प्रतिरोध को समर्थन नहीं देता, बल्कि उस प्रतिरोध की मुखालफत करता है। लेकिन पढ़े-लिखे प्रबुद्ध समाज में जब हम बैठते हैं, तो यह वर्ग स्त्री दुर्दशा पर आंसू बहाता है, भाषण देता है व अंत में कंधे उचकाकर कह देता है, 'हम क्या करें? स्त्री प्रताड़ना के प्रकरणों में दूसरी स्त्रियों की ही भूमिका होती है। औरत ही औरत की दुश्मन है...।' ऐसा कहकर पुरुष अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेता है। पर सच यह है कि स्त्री प्रताड़ता के प्रकरणों में स्त्री-पुरुष, दोनों की समान जिम्मेदारी है। हां, भूमिका अलग-अलग हो सकती है।

जिसे हम स्त्री बनाम स्त्री मुकाबला समझते हैं, अंततः उसके मूल में स्त्री बनाम पुरुष की अवधारणा है, जहां पुरुष मालिक और स्त्री उसकी मिल्कीयत है। स्त्री प्रताड़ता के प्रकरणों में स्त्री-पुरुष, दोनों की समान जिम्मेदारी है

प्रश्न यह है कि यह भावना दूर कैसे हो। निश्चित रूप से इसके लिए अपने उन संस्कारों से टकराने की जरूरत है, जो हमारे दिल-दिमाग में गहरे बैठ गए हैं कि पुरुष श्रेष्ठ और स्त्री हीन है। व्यवहार में इसके विरुद्ध लड़ाई की शुरुआत घर से ही करनी पड़ेगी। बच्चों को अक्षर ज्ञान के बाद पुस्तक के पहले पाठ में घर की जो तसवीर देखने को मिलती है, वह यह कि पिता अखबार पढ़ रहे हैं, मां रोटी पका रही है, लड़का खेल रहा है और लड़की झाड़ू लगा रही है। लड़के के लिए मेडिकल, इंजीनियरिंग और प्रबंधन की पढ़ाई, तो लड़कियों के लिए बीएड और होम साइंस जैसे विषय सुझाए जाते हैं, क्योंकि लड़कियों के लिए आज भी शादी ही अंतिम लक्ष्य है।

ऐसे में, जरूरी है कि हम समानता का व्यवहार अपने बच्चों से करें। खुद घर के भीतर पति-पत्नी के बीच समानता का व्यवहार हो, जिसे बच्चे देखें। लड़का-लड़की के बीच का भेद हम अपने व्यवहार में समाप्त करें, यह निहायत जरूरी है। पुत्र जन्म की चाहत में अपना और परिवार का तथा परिवार में उपस्थित बेटियों का जीवन दूभर न करें। लड़कों वाले काम-लड़कियों वाले काम या लड़कों वाले खेल-लड़कियों वाले खेल जैसा विभाजन हम न करें। हमें उन्हें बताने की जरूरत नहीं, खुद अपनी रुचि के अनुसार वे अपने वाले खेल अपना लेंगे। लड़के-लड़कियों को अपनी रुचि के विषय चुनने दें, ताकि आगे चलकर अपनी मरजी के क्षेत्र में वे काम कर सकें। कुल मिलाकर औरत का दुश्मन पुरुषवाद की मानसिकता है। इस मानसिकता से ओतप्रोत पूरा समाज है। फिर ठीकरा औरत के ऊपर ही क्यों?

(लेखिका वामपंथी साहित्यकार है)

अनचाही बेटियों का घर

मणिमाला

महिला दिवस

कन्या भ्रूण हत्या की बढ़ती रफ्तार ने हमें डरा दिया है। इसे रोकने के लिए कानून लाए गए, पर कोई खास फर्क नहीं पड़ा। इसकी सबसे बड़ी वजह महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक समझे जाने के अलावा गर्भ में ही लिंग का पता लगा लेने वाली मशीनों का सुलभ होते जाना और इस अपराध में शामिल डॉक्टरों के खिलाफ किसी तरह की कार्रवाई नहीं होना है। औरतों का अपने ही शरीर पर अधिकार नहीं होना भी एक और बड़ी वजह है।

कई बार ऐसा होता है कि जब हम किसी गंभीर समस्या का सकारात्मक हल नहीं ढूंढ़ पाते हैं तो नकारात्मक हल ढूंढ़ने लगते हैं। इससे समस्या और गंभीर हो जाती है। जब सरकार को लगने लगा कि वह कन्या-भ्रूण हत्या पर रोक लगाने में नाकामयाब हो रही है तो एक नई योजना 'पालना' लाने की घोषणा की गई। इसके तहत वे मां-बाप, जो कन्या शिशु नहीं चाहते, अपनी बेटियों को 'पालना' में छोड़ सकते हैं। उनका भरण-पोषण सरकार करेगी।

पहले भी जब कोख में लिंग जानने की तरकीबें नहीं मालूम थीं, कई बार अनचाहे बच्चों को या तो कहीं छोड़ दिया जाता था या मार डाला जाता था। पालना मुश्किल है, फेंकना आसान है। फर्क इतना है कि सरकार बेटियों को फेंकने के लिए एक टोकरा रख दे रही है। नमक चटा कर बच्चियों को मार डालने की ढेरों कहानियां हम वर्षों से सुनते आए हैं। राजा जनक को सीता खेत में हल चलाते हुए मिली थीं तो प्रसिद्ध राजनर्तकी अंबपाली का नाम ही आम्रपाली इसलिए पड़ा कि अपने पालक को वह आम के बाग में मिली थी।

बेटियां जिंदा रहें, लिंग अनुपात न बिगड़े, सृष्टि का सिलसिला यों ही चलता रहे, इसके लिए बेटियों का पैदा होना जरूरी है। स्त्रीविहीन दुनिया की भयावह तस्वीर कन्या-भ्रूण हत्या पर अंकुश नहीं लगा सकी तो अब बेटियों के पालने का बोझ कम करके इसे रोकने की बात हो रही है। कहा जा रहा है 'कोख को कब्र न बनाओ। पैदा होने के बाद पलने के लिए पालना घर में छोड़ दो।' सरकार को उम्मीद है कि यह तरकीब जरूर काम आएगी। मां-बाप के होते हुए भी बेटियों को अनाथ बना देना मरने के लिए छोड़ देने जैसा ही है। सबको पता है कि अनाथालयों और बाल गृहों में बच्चों के साथ क्या व्यवहार होता है।

यह भी कहा जा रहा है कि क्या पता बाद में दया या मोह जाग जाए और माता-पिता अपनी बेटियों को वापस ले जाएं। संभव है कि कोख में जो बेटियां बच जाएं, पैदा हो जाएं और उनके प्रति मां-बाप का प्यार भी बचा रह जाए। कई बार ऐसा भी होता है कि जो लोग भ्रूण का लिंग नहीं जान पाते हैं, वे रो-कलप कर ही सही, बच्ची पैदा होने पर उसे पाल लेते हैं। चाहे वे हर कदम बेटा-बेटी में फर्क ही क्यों न करें! पैदा होने के बाद मारना भावनात्मक कारण से कोख में मारने से ज्यादा कठिन हो जाता है। सरकार की तरफ से कोई पालना घर न होने के बावजूद, जिन्हें अपने बच्चे नहीं पालने होते हैं वे उन्हें कहीं न कहीं डाल आते हैं या फिर अस्पताल में ही छोड़ आते हैं। इस तरह पैदा होने के बाद बच्चे को 'मालना' घर में डाल आना उतना आसान नहीं होगा। जो पालना घर में डालेगा, वह उसे वापस ले आएगा, ऐसा आमतौर पर नहीं होगा। इक्के-दुक्के लोगों की उम्मीद पर ऐसी व्यापक नीतियां नहीं बनाई जा सकतीं। सरकार बेसहारा बच्चों को पालने के लिए कोई सार्थक योजना बनाए और उस पर अमल करे तो वह स्वागतयोग्य कदम होगा। लेकिन 'पालना' सिर्फ व्यवहार में नहीं, सोच में भी गलत है।

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार की ओर से जारी फरमान व्यावहारिक तौर पर समाज पर असर डालने के अलावा सोच को भी प्रभावित करते हैं। 'अगर बेटी की परवरिश नहीं करना चाहते हो तो उन्हें छोड़ सकते हो, यह गलत नहीं है'- इसे अगर सरकारी तौर पर एक बार स्वीकार कर लिया जाए तो धीरे-धीरे सामाजिक तौर भी स्वीकार कर लिया जाएगा। अगर बेटियों को 'पालना घर' में डाल आने को बढ़ावा मिले तो जाहिर है कि वह इस विचार को पुख्ता करेगा कि घर-परिवार और परवरिश पर सिर्फ बेटों का हक है।

अभी तो बेटियां बड़ी हो जाने के बाद घर से बेदखल होती हैं, तब तो पैदा होते ही उनका कोई घर-परिवार नहीं होगा, न आगे उनकी पढ़ाई-लिखाई होगी न कोई संपत्ति होगी उनके नाम। क्या सवाल सिर्फ बेटियों की देह को बचा लेना है? 'पालना घर' में बच्चियों का भविष्य कैसा होगा; वे कितनी सशक्त नागरिक बन पाएंगी! एक ओर सरकार महिलाओं को घरेलू हिंसा के खिलाफ संरक्षण देने और संपत्ति में बराबरी का हक देने की बात करती है, वहीं जनमते ही उन्हें घर से बेदखल करने की भी बात कर रही है। क्या इससे बड़ी कोई घरेलू हिंसा हो सकती है? या संपत्ति के कानून का इससे भी बड़ा उल्लंघन हो सकता है? और तो और अपनी पहचान तक से बेटियां वंचित हो जाएंगी। जरा उन तमाम बेटियों की आवाज को सुनें और समझें जो हर गांव-जवार से, टीले और कस्बे से उठ रही हैं-

जे ही कोख बेटा जनमल वो ही कोख बेटिया
काहे कइल हो बाबुजी दुरंग नीतिया
बेटा जे जनमल बाजल बधइया
काहे लोखवा बहवल हमार बेरिया
काहे मथवा झुकवल हमार बेरिया
काहे पगड़ी उतरल हमार बेरिया

(जिस कोख से बेटा पैदा होता है, उसी कोख से बेटी भी पैदा होती है। फिर भी पिताजी, बेटे के जन्म पर आपने बधाई बजवाई, पर जब हमारी बारी आई तो आपने आंसू बहाए, सिर झुकाए और पगड़ी उतारी)

नेतृत्व को तैयार आज की नारी

हाल के दिनो में आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर पुरुष शक्ति के अभेद्य किलों के टूटने के लक्षण स्पष्ट दिखने लगे हैं।

■ विमला पाटिल

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस विशेष

अमेरिकी राष्ट्रपति पद के लिए डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार की दौड़ में जैसे-जैसे हिलेरी रोधम क्लिंटन अंतिम चक्र में पहुंच रही हैं, वह ऊर्जा और आशा से लबरेज दिखाई पड़ रही हैं। कह सकते हैं कि अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस 2008 पर इस बात की प्रबल संभावना है कि महिलाओं से जुड़े मुहावरे केवल मजाक भर रह जाएं। इसका पुख्ता आधार हैं अंतरराष्ट्रीय मीडिया रिपोर्ट जो बताती हैं कि आज महिलाएं मानवीय क्रियाकलापों के सभी क्षेत्रों में नई-नई उपलब्धियां अर्जित कर रही हैं। विश्व के नेताओं ने इस बात की पुष्टि की है कि तथाकथित कम विकसित देश पश्चिम के विकसित देशों की तुलना में सरकार के प्रमुख के तौर पर महिलाओं को चुनने में अधिक खुलेपन से काम लेते हैं। हाल के दिनो में आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर पुरुष शक्ति के अभेद्य किलों के टूटने के लक्षण स्पष्ट दिखने लगे हैं। भारत में भी प्रतिभा पाटील को देश की पहली महिला राष्ट्रपति होने का गौरव प्राप्त हुआ है। नवंबर 2006 में ही कैलीफोर्निया से डेमोक्रेटिक पार्टी की प्रतिनिधि 66 वर्षीय नैन्सी पेलोकी वॉशिंगटन में प्रतिनिधि सभा की स्पीकर चुनी गई थीं। शक्तिशाली महिलाओं की सूची में शामिल अमेरिकी राष्ट्रपति की दौड़ में प्रभावी उपस्थिति दर्ज करा रहीं हिलेरी अगर जीतती हैं तो अब तक पुरुष शक्ति की गढ़ रही अमेरिकी सरकार और अर्थव्यवस्था एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का अनुभव करेगी और अमेरिका उन देशों के क्लब में शामिल हो जाएगा, जहां महिलाएं सत्ता के शीर्ष पर आसीन हैं। वैसे अमेरिकी सीनेट में महिला प्रतिनिधियों की संख्या 100 में 16 तक हो चुकी है। कैलीफोर्निया, मैनी और वॉशिंगटन जैसे कुछ राज्यों का महिलाएं ही पूरी तरह से प्रतिनिधित्व करती हैं। अमेरिकी महिलाओं ने इस विकास को बिना किसी आरक्षण और मदद के हासिल किया है। अमेरिका में यह परिवर्तन केवल राजनीतिक स्तर पर नहीं आया है। बहुत सी अमेरिकी महिलाएं फॉर्च्यून 500 में शामिल कंपनियों को चला रही हैं।

बहुत से विकासशील देश पहले ही महिला नेत्रियों को देश प्रमुख के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। श्रीलंका में सिरिमाओ भंडारनायके और चंद्रिका कुमारतुंगा राष्ट्रप्रमुख रह चुकी हैं। लाइबेरिया की राष्ट्रपति एलन जॉन्सन सरलीफ किसी अफ्रीकी राष्ट्र की राष्ट्रपति चुनी जाने वाली पहली महिला हैं। भारत में इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री रही हैं, तो वहीं पाकिस्तान में दिवंगत बेनजीर भुट्टो देश की पहली महिला प्रधानमंत्री बन चुकी हैं। बांग्लादेश में शेख हसीना वाजेद और खालिदा जिया, इंडोनेशिया में मेघावती सुकर्णोपुत्री, इजरायल में शक्तिशाली गोल्डा मॉयर और ब्रिटेन में मारग्रेट थैचर देश के महत्वपूर्ण पद को सुशोभित कर चुकी हैं। इसी तरह मजबूत अर्थव्यवस्था वाले देशों में से एक जर्मनी पर महिला चांसलर एंजेला मार्केल का शासन है। फिनलैंड में तारजा हेलोनेन सत्ता शीर्ष पर हैं तो चीन में वू यी उप-प्रधानमंत्री हैं। इस सूची में न्यूजीलैंड की प्रधानमंत्री हेलेन क्लार्क और चिली की राष्ट्रपति मिशेल बेकलेट भी हैं।

भारत में कांग्रेस पार्टी की अध्यक्षा सोनिया गांधी फोर्ब्स की शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व की सूची में तीसरे स्थान के लिए चुनी जा चुकी हैं। भारतीय संसद में महिलाओं की संख्या भी प्रभावशाली है। संविधान द्वारा स्थानीय और म्यूनिसिपल संस्थाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित करने से शासन में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है। यूनीसेफ की रिपोर्ट भी यह सुनिश्चित करती है कि महिलाएं नागरिक प्रशासन में भागीदारी करने में सक्षम हैं। यही नहीं, वे ग्रामीण समुदाय विशेषकर महिलाओं और बच्चों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए सभी तरीकों का निश्चित प्रयोग करती हैं। वर्तमान भारत में दस लाख से अधिक महिलाएं इस प्रकार के राजनीतिक दायित्व को संभाले हुए हैं। देश की संसद में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का विधेयक भी विचाराधीन है।

इस प्रक्रिया से पूरे भारत में न सिर्फ तेजी से बदलाव आया है, बल्कि संसद में महिलाओं के प्रतिनिधित्व के स्तर में भी सुधार हुआ है। महिला राजनीतिज्ञों ने साबित किया है कि वे ग्रामीण जनता के जीवन में समूहों के गठन, माइक्रो क्रेडिट सिस्टम, प्राथमिक स्वास्थ्य, शिक्षा, पानी और विद्युत वितरण में सुधार कर एक नया परिवर्तन ला सकती हैं। यह भारत के लिए गर्व की बात है कि उसके प्रत्येक राज्य में आज हजारों महिलाएं स्थानीय प्रशासनिक निकायों के प्रमुख पदों पर आसीन हैं। इसके अलावा दूसरे क्षेत्रों में भी भारतीय महिलाओं ने अंतरराष्ट्रीय सफलता अर्जित की है। इंदिरा नूयी, किरण मजूमदार शॉ, सुलज्जा फिरौदिया मोटवानी, किरण देसाई, सुनीता विलियम्स, नैना लाल किदवई, चंदा कोचर, ललिता गुप्ते जैसी महिलाएं इसका उदाहरण हैं।

कहा जाता है कि बिना धन के महिला की सारी शक्ति धरी की धरी रह जाती है और उसका कोई उपयोग नहीं हो पाता। इस बारे में भी मैरिल लिंच का एक सर्वे आंखें खोलने वाला है। इसमें बताया गया है कि एशिया-प्रशांत क्षेत्र में निजी संपत्ति के मामले में भारत तेजी से उभरता देश है, तो एक मिलियन डॉलर से अधिक की निजी संपत्ति वाले लोगों में 17 फीसदी महिलाएं हैं। सर्वे में यह भी कहा गया है कि जिन बिजनेस घरानों के शीर्ष प्रबंधकीय स्तर पर महिलाओं की संख्या अधिक है उनका प्रदर्शन अन्य कंपनियों की तुलना में कहीं बेहतर है।

कह सकते हैं कि किसी भी मायने में महिलाओं की ये शानदार उपलब्धियां हैं, पर क्या जो महिलाएं विश्व में सत्ता प्रतिष्ठान पर काबिज हैं उनसे हमें लाभ हो रहा है? वे पूरे विश्व को बदलने में कैसे मदद कर सकती हैं? यूनीसेफ की रिपोर्ट कहती है कि शासन में बहुत ज्यादा महिलाओं की भागीदारी बच्चों की बेहतरी के लिए अधिक अवसरों को सुनिश्चित करती है। एक महिला के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, बच्चों की देखभाल, पारिवारिक जीवन में विकास के लिए सुविधाएं और सबके लिए समान अवसर का प्रावधान काफी महत्व रखता है। महिला के लिए परिवार व धन संबंधी कानून, सावर्जनिक और निजी स्थानों पर महिला अधिकारों की मजबूती के अतिरिक्त दहेज, हिंसा, काम के अवसर और बेहतर दशाएं ज्यादा मायने रखती हैं। नतीजतन वे इस दिशा समेत छोटे उद्यमों, पर्यावरण की रक्षा की दिशा में एक साथ काम कर सकती हैं। इस आधार पर कह सकते हैं कि 2010 तक विश्व में महिला नेत्रियों का योगदान ही इस बात की गवाही देगा कि वे विकास, शांति और समृद्धि के नए युग तक विश्व को लाने में कहां तक सफल हो सकी हैं? तब तक तो यह समय महिलाओं के लिए उत्सव मनाने का है।

-लेखिका फेमिना की पूर्व संपादक हैं'

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस
8 मार्च

दुनिया के कई देशों के प्रमुख पदों पर महिलाओं की पकड़ और दावेदारी बढ़ती जा रही है। 'सिंहासन खाली करो कि महिलाएं आती हैं' की गूंज अब सुनाई देने लगी है। विश्व में सत्ता के शिखर पर बैठी महिलाओं पर एक नजर...

विमन इन पावर

■ शहला फाइज

तर्जा कारिना हेलोनिन शांतिवाद की समर्थक

दो बार राष्ट्रपति रहीं तर्जा कारिना हेलोनिन इस पद तक पहुंचने वाली फिनलैंड की पहली महिला हैं, उनका हालिया कार्यकाल 2012 तक है। तर्जा मानव अधिकार और स्त्री-पुरुष समानता की कठोर पक्षधर मानी जाती हैं। शायद इन्हीं खूबियों के चलते उन्हें कई बार यूएन के सेक्रेटरी जनरल पद के लिए श्रेष्ठ उम्मीदवार माना जाता रहा है। 70 के दशक में बतौर पार्लियामेंट सेक्रेटरी राजनीति शुरू करने वालीं तर्जा फेमेनिस्ट कहलाती हैं, इसकी वजह फिनलैंड में मुख्य पदों पर महिलाओं की नियुक्ति करना है। इतिहास, थियेटर और पेंटिंग की शौकीन तर्जा जानवर पालने का शौक भी रखती हैं। उनकी फिनिश, स्वीडिश, रशियन, अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं पर पकड़ है। उन्हें जमीन से जुड़ा इंसान माना जाता है। पहली बार राष्ट्रपति भवन पहुंचने के बाद उन्होंने अपने 15 वर्ष पुराने पार्टनर वकील पेंटी अर्जावी से विवाह किया।

एलिन जॉनसन सर्लीफ आयरन लेडी ऑफ लाइबेरिया

1938 में जन्मी एलिन लाइबेरिया और अफ्रीका की पहली राष्ट्रपति हैं। वह दुनिया की तीसरी अश्वेत महिला लीडर ऑफ स्टेट भी हैं, उनके समर्थक उन्हें 'आयरन लेडी ऑफ लाइबेरिया' कहते हैं। एलिन हॉर्वर्ड से पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में मास्टर्स डिग्री धारक हैं। 1972 में लाइबेरिया सरकार में वित्त मंत्री के पद से शुरुआत कर वह आज सत्ता के शीर्ष पर हैं। फोर्ब्स मैग्जीन ने 2006 की असरदार महिलाओं की सूची में उन्हें 51 वें पायदान पर रखा है। एलिन का मानना था कि अगर वह राष्ट्रपति बन जाती हैं तो अफ्रीकी राजनीति में महिलाओं के लिए बेहतर विकल्प खुलेंगे। लड़ाई का गढ़ बन चुके लाइबेरिया को 'मदरली सेंसिटिविटी' देने के लिए उन्होंने यह राह पकड़ी। पीपुल्स रिडेंपशन ग्रुप के पावर में आने के बाद एलिन ने कुछ साल निष्कासन में गुजारे। 1997 में हुए राष्ट्रपति चुनावों में वो हारीं, लेकिन दिसंबर 2006 में राष्ट्रपति चुनी गईं।

वेरोनिका मिशेल बैचलेट जेरिया पहली महिला राष्ट्रपति, चिली

54 वर्षीय मिशेल बैचलेट चिली की पहली महिला राष्ट्रपति और दक्षिणी अमेरिकी देश का नेतृत्व करने वाली दूसरी महिला हैं। फोर्ब्स पत्रिका ने उन्हें दुनिया की 100 पावरफुल महिलाओं की सूची में 17 वें नंबर पर रखा है। ब्रिगेडियर पिता की इस बेटी ने 1979 में मेडिकल स्टडीज में कैरियर बनाने की शुरुआत की। पेशे से सर्जन और पीडिएट्रिशियन मिशेल तीन बच्चों की मां हैं और स्पेनिश, अंग्रेजी, जर्मन, पुर्तगाली और फ्रेंच समेत पांच भाषाएं बोल सकती हैं। वह वॉलीबॉल, थियेटर और म्यूजिक का शौक रखती हैं। 2002 में हुए एक ओपिनियन पोल में उन्हें राष्ट्रपति पद की दौड़ में मजबूत उम्मीदवार घोषित किया गया। जनता जनार्दन की मांग को पूरा करते हुए उन्होंने मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। 2005 में हुए चुनावों में तो वह हार गईं, लेकिन 2006 में लगभग 54 फीसदी वोटों के साथ राष्ट्रपति की कुर्सी अपने नाम कर ली।

एंजिला मर्केल जर्मनी की मार्गरिट थैचर

1954 में हैमबर्ग, जर्मनी में जन्मी फिजिक्स डॉक्टरेट एंजिला मर्केल ने एक केमिस्ट के तौर पर ईस्ट बर्लिन की साइंटिफिक एकेडमी में कार्य किया। 1990 में सीडीयू में शामिल हुईं। ब्रिटेन के पूर्व चांसलर और अपने सियासी गॉडफादर हेलमट कोल के शासनकाल में वह 'कोल्स गर्ल' कहलाईं। 2000 में वह सीडीयू की लीडर बनीं। प्रेस उन्हें जर्मनी की 'मार्गरिट थैचर' पुकारती है। दो वर्ष पहले 2005 में मर्केल पुराने ईस्ट जर्मनी की पहली चांसलर और जर्मनी की पहली महिला चांसलर बनीं। हाल ही में हुए एक सर्वे में एंजिला जर्मनी की सबसे चर्चित राजनेता बताई गई हैं। वे यूरोपियन डिप्लोमेसी का ताजा चेहरा हैं। जर्मनी की दो बड़ी पार्टियों सीडीयू और एसपीडी यानी सोशल डेमोक्रेट्स के गठजोड़ में उनकी अहम भूमिका है। जी-8 सम्मेलन के दौरान जॉर्ज बुश के 'फ्रेंडली जेस्चर' के तहत गर्दन में मसाज के मुद्दे को लेकर वह मीडिया के लिए रोचक खबर साबित हुईं। सीडीयू के कुछ मेंबर्स उन्हें अपना रोल मॉडल मानते हैं।

ग्लोरियो अरोयो पिता के नक्शे कदम पर

फिलीपीस की चौदहवीं लेकिन जेंडर वाइज दूसरी महिला राष्ट्रपति ग्लोरियो माकापगल अरोयो अपने पिता के नक्शे कदम पर चलते हुए राष्ट्रपति बनी हैं। हाल ही में आसियान सम्मेलन पर आतंकी हमलों के मद्देनजर अरोयो ने अपनी शख्सियत का एक पहलू सामने रखा, उन्होंने आसियान की तैयारियों की समीक्षा की और आयोजन सफल हुआ। फिलीपींस यूनिवर्सिटी से अर्थशास्त्र से डॉक्टरेट अरोयो ने राजनीति में आने से पहले अध्यापन किया है। 1987 में राष्ट्रपति के बुलावे पर उन्होंने ट्रेड एंड इंडस्ट्री में असिस्टेंट सेक्रेटरी का पद संभाला। 80 के दशक में उनके कार्यकाल में इस इंडस्ट्री ने जबरदस्त उछाल देखा। 1992 और 1995 में अरोयो दो बार सीनेटर रह चुकी है। दो वर्ष के लिए उप राष्ट्रपति रह चुकीं अरोयो को लंबी उथल-पथल के बाद सुप्रीम कोर्ट ने जनवरी 2001 में फिलीपींस का राष्ट्रपति घोषित किया। पिता को अपना रोल मॉडल मानने वालीं अरोयो ने विषम हालात भी बखूबी संभाले हैं...

■ इराक में अपने हम वतन कंटिनजेंट के किडनैप होने के बाद उन्होंने आनन-फानन में सेना वापस बुलवा ली।

■ अगस्त 2006 में उनके पति पर लगे करप्शन चार्जेज के तहत उन्हें धरा गया। उनके परिवार पर जर्मनी के एक बैंक में सीक्रेटली 500 मिलियन डॉलर की धन राशि रखने का आरोप था। बाद में बैंक ने परिवार को क्लीन चिट देते हुए कहा कि यह एकाउंट अब है ही नहीं।

विमन इन लीडरशिप

- कोंडोलीजा राइस, अमेरिका की सेक्रेटरी ऑफ स्टेट
- लुइस आर्बर, जस्टिस ऑफ द सुप्रीम कोर्ट ऑफ केनेडा
- मार्गरेट बैकेट, सेक्रेटरी ऑफ फॉरेन एंड कॉमनवेल्थ, ब्रिटेन
- पोर्शिया सिंपसन मिलर, प्रधानमंत्री जमैका
- मिशेल जीन, गवर्नर जनरल ऑफ केनेडा
- डेम सिल्विया कार्टराइट, गवर्नर जनर ऑफ न्यूजीलैंड
- आंग सान सू की, लीडर ऑफ अपाजीशन, बर्मा
- हेलेन क्लार्क, प्रधानमत्री, न्यूजीलैंड
- सोनिया गांधी, कांग्रेस अध्यक्ष, भारत

■ आमने-सामने

बहस : महिला दिवस समारोह कितना सार्थक

जागरूक बनाने के लिए फायदेमंद

सुमंगला भान

महिला दिवस पर आज हमारे देश में कई कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। यह देश की महिलाओं के अपने कार्यों व अधिकारों के प्रति जागरूकता का परिणाम है। हालांकि ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएं शिक्षित नहीं होने के कारण आज भी अपने अधिकारों से वंचित हैं। उन महिलाओं को शिक्षित कर उन्हें अधिकारों के प्रति जागरूक करना होगा। हालांकि यह सच है कि आज भी निजी क्षेत्रों में महिलाओं का शोषण किया जा रहा है। लेकिन इससे महिला दिवस का महत्व कम नहीं होता है। इस दिवस पर होने वाले समारोह महिलाओं को उनके महत्व का ज्ञान कराते हैं। महिलाओं का शोषण समाप्त कराने के लिए खुद स्त्रियों के साथ-साथ समाज के लोगों को भी आगे आना होगा। पिछले चार दशकों में महिलाओं ने महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की हैं। भारतीय नारी ने अपनी परंपरागत छवि को तोड़कर समाज में मजबूती से अपने होने का अहसास दर्ज कराया है।

भारतीय समाज ने भी इस बात को मान लिया है कि किसी भी समाज का चतुर्दिक विकास तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके समाज की स्त्रियों की पूर्ण भागीदारी न हों। खास बात यह है कि केवल समारोह या सेमिनार आयोजन करने से ही इनकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। इसके लिए लोगों को प्रयास करने की आवश्यकता है। कहने को तो हम 21वीं सदी में प्रवेश कर गए हैं लेकिन आज भी भ्रूण हत्या जैसे जघन्य अपराध करने से बाज नहीं आते। सरकार ने इसके लिए कठोर कानून भी बनाया है। दुखद यह है कि उस पर अमल नहीं किया जा रहा है; इस कारण ही देश में लड़कियों की संख्या में कमी आ रही है। इसके लिए महिलाओं के साथ-साथ सरकार को भी कठोर कदम उठाने होंगे। कन्याओं का अस्तित्व बचाकर ही एक बेहतर समाज की कल्पना की जा सकती है।

(सुश्री भान नरेंद्र मोहन अस्पताल की वरिष्ठ बाल रोग विशेषज्ञ हैं)

आत्मनिर्भरता ज्यादा जरूरी

ज्योति श्रीवास्तव

विदेशों की देखादेखी हम भारतीय भी कोई भी दिवस मनाने का नाटक करते हैं। लेकिन नकल के लिए भी अक्ल की आवश्यकता होती है। विदेशों में पूरे वर्ष सभी योजनाओं पर कार्य होता है और हमारे यहां ठीक इसके विपरीत होता है। महिला दिवस पर संबंधित मंत्रालयों द्वारा विज्ञापन देकर या सेमिनार का आयोजन कर अपनी जिम्मेदारी से मुक्ति पा ली जाती है और अगले साल आयोजन के लिए प्रतीक्षा की जाती है। इससे बेहतर है कि इस दिवस का आयोजन ही न किया जाए। सच कहा जाए तो दिवस नहीं मनाना चाहिए। दिवस मनाने की परंपरा विदेशों से आई है। ग्लोबलाइजेशन के कारण हमारे देश में भी विभिन्न दिवस मनाने की परंपरा शुरू हो गई है। महिला दिवस भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। महिला दिवस प्रतिवर्ष मनाया जाता है। देश में समारोहों का आयोजन किया जाता है। मंच से महिलाओं के विकास के लिए लंबे-चौड़े भाषण दिए जाते हैं। लेकिन उस पर अमल नहीं किया जाता। सच कहा जाए तो महिला दिवस सालों भर है नहीं तो एक दिन भी नहीं। वैसे भी महिला दिवस पर वही महिलाएं समारोह में भाग लेती हैं जो इसके बारे में जानती हैं। महिला दिवस पर आयोजित समारोह में कही गई बातों से महिलाओं की स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ता। महिला दिवस कार्यक्रमों में तय किए गए उद्देश्य को साकार करने के लिए महिलाओं को उचित सम्मान देना चाहिए। ग्रामीण महिलाएं इस दिवस के बारे में कुछ नहीं जानती हैं। जागरूक बनाने के लिए अभियान चलाना पड़ेगा। साथ-साथ महिलाओं को एक मंच पर लाकर आत्मनिर्भर भी बनाना होगा, इसके लिए महिला दिवस मनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। महिलाएं शिक्षित और जागरूक होंगी तो उनका विकास स्वतः होगा।

(सुश्री श्रीवास्तव वैशाली कला केंद्र की निदेशिका हैं)

प्रस्तुति : राजेश तिवारी

परिवार और पुरुष विरोध पर नहीं टिक सकता है नारीवाद

'आठ मार्च को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मात्र महिलाएं नहीं, बल्कि पुरुष भी मनाएं। महिलाओं के सशक्तिकरण से पूरा परिवार, फिर पूरा समाज और बाद में पूरा देश और विश्व मजबूत होता है। महिलाओं के आर्थिक व राजनीतिक सशक्तिकरण के लिए यह जरूरी है कि महिलाओं का संपत्ति या जमीन में अधिकार होना चाहिए।'

स्त्री-पुरुष दोनों ही समाज के समान अंग हैं। दोनों से ही परिवार बनता है और फिर समाज। इसका उदाहरण मैं खुद हूं। मैं नारीवादी हूं। मेरा भरा-पूरा परिवार है। मेरे परिवार में कुल 11 नाती-पोते हैं। ऐसे में नारीवाद का जो पुराना मॉडल, पुरानी धारणा है, वह बदल गई है।

नार्वे की मंत्री रह चुकी **ऐनी स्टेनहैमर** के पास नौकरशाह, राजनीतिक और नारीवादी कार्यकर्ता का अनुभव है। डेनमार्क की, कोपेनहेगेन यूनिवर्सिटी से एमबीए ऐनी नार्वे की मंत्री के तौर पर पहले भी भारत व बांग्लादेश का दौरा कर चुकी हैं। नार्वे की वामपंथी पार्टी के कई पदों पर रह चुकी ऐनी ने कुछ दिन पहले ही यूनीफेम की दक्षिण एशिया के क्षेत्रीय कार्यक्रम डायरेक्टर का पद संभाला है। दक्षिण एशिया में महिलाओं की दशा-दिशा, कारण-निवारण पर विशेष संवाददाता **संजय मिश्र** से हुई बातचीत के मुख्य अंश।

संयुक्त राष्ट्र ने यूनीफेम को खासकर महिलाओं के बीच काम करने वाले संगठन के तौर पर मान्यता दी है। ऐसे में दक्षिण एशिया में आपका मिशन क्या है?

यूनीफेम ने यह तय किया है कि महिलाओं के खिलाफ होने वाली किसी भी प्रकार की हिंसा को रोकना है। दक्षिण एशिया में भी यूनीफेम के इसी मिशन को आगे बढ़ाना है। हम एक अभियान के तौर पर दक्षिण एशिया के सभी देशों की सरकार पर महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा को रोकने को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का दबाव बनाना चाहते हैं। इससे ही धार्मिक कट्टरता के कारण, सामाजिक-आर्थिक कारणों के कारण महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा को खत्म किया जा सकता है।

आप पश्चिम में पैदा हुई, वहीं पली-बढ़ीं। फिर भी आपने दक्षिण एशिया को अपना कार्यक्षेत्र चुना है, जहां महिलाओं की स्थिति बिल्कुल विपरीत है। सामाजिक-धार्मिक मान्यताएं भी अलग हैं। ऐसे में आपके सामने क्या चुनौती है?

मैं नार्वे की हूं। नार्वे में भी महिला सशक्तिकरण के अभियान की शुरुआत मात्र 20-30 सालों में हुई है। मैंने नार्वे को बदलते हुए देखा है। पश्चिम की महिलाओं में बदलाव की अंगड़ाई देखी है। ऐसे में दक्षिण एशिया, खासकर भारत-पाकिस्तान में चुनौतियां हैं, तो इसके समाधान के रास्ते भी बहुत हैं। महिलाओं के सशक्तिकरण का अभियान छोटे-छोटे परिवर्तनों से गुजरेगा। इसके बाद ही यह कोई बड़ा रूप लेगा। इस कारण मैं कोई जल्दबाजी में नहीं हूं।

पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में नारीवाद को पुरुष-विरोधी, खासकर परिवार विरोधी माना जाता है। ऐसे में आप महिला सशक्तिकरण का काम कैसे करना चाहेंगी?

नारीवाद न तो परिवार विरोधी होता है और न ही पुरुष-विरोधी। यह पुरानी मान्यता थी। स्त्री-पुरुष दोनों ही समाज के समान अंग हैं। दोनों से ही परिवार बनता है और फिर समाज। इसका उदाहरण मैं खुद हूं। मैं नारीवादी हूं। मेरा भरा-पूरा परिवार है। मेरे परिवार में कुल 11 नाती-पोते हैं। ऐसे में नारीवाद का जो पुराना मॉडल, पुरानी धारणा है, वह बदल गई है।

महिला ही महिला को सताती है। आंकड़े भी इसकी ताकीद करते हैं। ऐसे में आप दक्षिण एशिया में महिला उत्थान या सशक्तिकरण के लिए कौन सा मॉडल अपनाएंगी?

यह सही है। आंकड़े यह बताते हैं कि एक महिला जो खुद मानव तस्करी की शिकार हैं, बाद में वह दूसरे महिलाओं को इसका शिकार बनाती है। इस प्रवृति को समझने की जरूरत है। फिर इसी के मुताबिक तैयारियों की जरूरत पड़ेगी। दूसरी प्रवृति यह है कि लड़कियों को भारतीय उपमहाद्वीप के एक राज्य से दूसरे राज्य में शादी के बहाने खरीद कर लाया जाता है। उसका इस्तेमाल घर के सभी पुरूष करते हैं और फिर जब वह बच्चा जनती है, तो उसे घर से बाहर कर दिया जाता है। यह अलग किस्म की दासता है। ऐसे में यूनीफेम ने पांच चीजों पर फोकस किया है। जिसमें सबसे पहले मानव तस्करी की शिकार महिलाएं, रिस्क ग्रुप, मानव तस्करी के शिकार बच्चे, पुलिस व जज और कानून-नीतिज्ञों में परिवर्तन शामिल है।

यूनीफेम का महिला सशक्तिकरण या उत्थान के लिए आपका विजन क्या है?

1.व्यापक आधार वाली साझेदारी, जिसमें मीडिया भी शामिल हो
2. दृढ़ नेतृत्व
3. बहु आयामी रणनीति
4. पुरूष व लड़कों का हर स्तर पर महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा को रोकने में योगदान तय करना

इस विजन को पूरा करने के लिए यह जरूरी है कि महिला के खिलाफ होने वाली हिंसा से संबंधित आंकड़े, उनका व्यापक अध्ययन करने के बाद सामुदायिक आधार पर हिंसा मुक्त समाज की पहल, नागरिक जागरूकता और महिलाओं के खिलाफ होने वाली किसी भी प्रकार की हिंसा को रोकने के लिए पुरुषों की भागीदारी तय करनी होगी। इसी तरह न्यायप्रणाली को भी महिला हिंसा को लेकर संवेदनशील बनाने की जरूरत है। न्याय प्रणाली से जुड़े लोगों को प्रशिक्षण का इंतजाम होना चाहिए। महिलाओं के आर्थिक व राजनीतिक सशक्तिकरण के लिए यह जरूरी है कि महिलाओं का संपत्ति या जमीन में अधिकार होना चाहिए। इसी तरह उन्हें कर्ज से लेकर नौकरी तक में समान अवसर देने की लड़ाई शुरू करनी होगी।

दक्षिण एशिया में अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस को लेकर आपकी क्या योजनाएं हैं?

आठ मार्च को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मात्र महिलाएं नहीं, बल्कि पुरुष भी मनाएं। महिलाओं के सशक्तिकरण से पूरा परिवार, फिर पूरा समाज और बाद में पूरा देश और विश्व मजबूत होता है। नार्वे में करीब 20 साल पहले महिला सशक्तिकरण का दौर देखा। आज नार्वे महिला सशक्तिकरण से ही मजबूत हुआ है। यह ठीक है कि भारतीय उपमहाद्वीप बहुत बड़ा है। यहां कई प्रकार की परेशानियां हैं। फिर भी यहां छोटे-छोटे बदलाव हो रहे हैं।

इन बदलावों से ही महिलाओं का सामाजिक-आर्थिक ताना-बाना बदलेगा।

पाकिस्तान डायरी

ज़ाहिदा हिना

75 बरस की शाहजहां बेगम आज भी ज़िंदगी से लोहा ले रही हैं।

उन्होंने अपनी पूरी उम्र जद्दोजहद में गुजार दी। आठ मार्च को रंगारंग प्रोग्राम होते रहे और शाहजहां बेगम रोज़ की तरह अपने कामों में मसरूफ़ रहीं...

बेनाम औरतों के नाम

होली की रंगीन मुबारकबाद आप तक देर से पहुंचेगी, लेकिन किसी मुहब्बत-भरे पैग़ाम का देर से पहुंचना, न पहुंचने से बेहतर है।

बेहतर तो यह बात भी है कि पाकिस्तान में औरतों का आलमी दिन (विश्व महिला दिवस) मनाने का सिलसिला देर से शुरू हुआ, लेकिन आहिस्ता-आहिस्ता इसकी धूमधाम बढ़ती जा रही है। बेनज़ीर भुट्टो की पहली हुकूमत बनी, तो यह सरकारी तौर पर मनाया गया और अब भी तक़रीबन यही आलम है। इस मर्तबा पाकिस्तान टेलीविजन के इस्लामाबाद स्टेशन ने रावलपिंडी में एक जश्न का एहतमाम किया। इसका आग़ाज़ हमारे अज़ीज़ दोस्त और उर्दू के मारूफ़ (जाने-पहचाने) अफ़सानानिगार (कहानीकार) जमील ज़ुबैरी की अदाकार बेटी लैला ज़ुबैरी ने किया। वह जब औरतों के इस दिन की अहमियत बयान कर रही थीं, तो उनके हुस्न, लफ़्ज़ों की अदायगी और उनकी अदाकाराना करिश्मासाज़ी ने लोगों का दिल मोह लिया। इस्लामाबाद की मशहूर ड्रेस डिज़ायनर आमना मलिक के तैयार किए हुए रंगीन और ख़ूबसूरत अंदाज़ के लिबास स्टेज पर बहार का समां दिखा रहे थे। यूं महसूस हो रहा था, जैसे ये सारे लिबास होली की पिचकारियों से रंगे गए हैं। इसके बाद मुग़ल दौर की नुमाइंदगी शानदार और शाहाना लिबास पहनने वाली उन मॉडल गर्ल्स ने की, जो उसी दौर के नाज़ो-अंदाज़ के साथ स्टेज पर आईं और मुग़ल मलिकाओं और राजपूत महारानियों की तरह शाहानी तख़्त पर नीमदराज़ (अधलेटी) हो गईं। स्टेज और फिल्म का महबूब किरदार अनारकली, पाकिस्तान की सफ़े-अव्वल (पहली पंक्ति) की अदाकारा निरमा ने अदा किया और नीम (अर्द्ध) क्लासीकी रक़्स करती नज़र आईं। यह जश्न रावलपिंडी की फ़ातिमा जिन्ना वीमेंस यूनिवर्सिटी में रिकॉर्ड हुआ, जो कि पाकिस्तान का पुराना प्रेसीडेंट हाउस है। प्रोग्राम के इख़्तिताम (समाप्ति) पर इस शानदार इमारत की तारीक छतों पर मशालें रोशन हो गईं और उसके साथ ही हुमैरा अरशद, यूनिवर्सिटी की पचास लड़कियों के साथ स्टेज पर आईं। इन सब लड़कियों के हाथों में जलती हुई मशालें थीं और वह हुमैरा अरशद की आवाज़ के साथ आवाज़ मिलाते हुए वह गीत गा रही थीं, जो 'नई रोशनी' के नाम से मशहूर है।

मौसीक़ी में मशहूर तो पाकिस्तान का सबसे पुराना पॉप म्यूज़िक ग्रुप 'जुनून' भी रहा है। इंजीनियरिंग यूनिवर्सिटी के सलमान अहमद, लाहौर के अली अज़मत और अमेरिका के ब्रायन ने सोलह बरस पहले 1990 में यह ग्रुप बनाया था। सोलह बरस तक इस पॉप ग्रुप ने पाकिस्तान और हिंदुस्तान के अलावा हर उस जगह अपने झंडे गाड़े, जहां पाकिस्तानी और हिंदुस्तानी आबाद हैं। हिंदुस्तान में 'जुनून' के गीत बहुत कामयाब रहे, जिनमें सूफ़ी रंग ग़ालिब (प्रमुख) था। बेनज़ीर भुट्टो के दौर में उनके गीत 'सय्योनी' पर पाबंदी लगी। पाबंदी ने इस गीत और 'जुनून' ग्रुप दोनों को शोहरत की बुलंदियों पर पहुंचा दिया। सलमान अहमद मौसीक़ी तरतीब देने के साथ-साथ गाते भी थे, अली अज़मत आवाज़ का जादू जगाते थे और ब्रायन बास में गिटार बजाते थे। ब्रायन शोबिज से जुड़ी एक पाकिस्तानी लड़की आयशा के इश्क़ में गिरफ़्तार हो कर पाकिस्तान आए थे। आठ बरस पहले दोनों की शादी नाकाम हुई, तो ब्रायन का दिल इस तरह टूटा कि वह फिर 'जुनून' से भी नाता तोड़ कर पाकिस्तान से चले गए।

उनके जाने से 'जुनून' ग्रुप को झटका लगा, लेकिन सलमान अहमद और अज़मत अली इस झटके को सह गए। दोनों मुख़्तलिफ़ प्रोग्रामों में अपने फ़न का मुज़ाहिरा करते रहे, फिर सलमान के बीवी-बच्चे अमेरिका जा बसे और सलमान की तवज्जो दो मुल्कों के दरमियान बंट गई। पटियाला से ताल्लुक़ रखने वाले सलमान अहमद ने अपना पहला सोलो गीत पटियाला में ही रिकॉर्ड कराया। इसके बाद उन्होंने पूजा भट्ट की फिल्मों में गीत गाया और उसकी मौसीक़ी भी ख़ुद ही तैयार की। पिछले बरस इस ग्रुप ने अमेरिका और कनाडा में इकट्ठे 12 म्यूज़िकल कंसर्ट किए। अफ़वाहें गरम थीं कि 'जुनून' ग्रुप अपने ख़ात्मे के आख़िरी पड़ाव पर है। ये अफ़वाहें आख़िर को सच साबित हुईं। चंद दिनों पहले इस ग्रुप का आख़िरी शो दुबई में हुआ, जहां इसके ख़ात्मे का ऐलान कर दिया गया। उनके चाहने वालों के लिए यह उदास कर देने वाली ख़बर है कि सलमान और अली अज़मत दोनों अपनी-अपनी राहों पर तन्हा चलेंगे।

ज़िंदगी में तन्हा तो बहुत लोग हो जाते हैं, लेकिन उनके अंदर की लगन और हिम्मत मुश्किल हालात से लड़ने के लिए उन्हें उकसाती रहती है। इन्हीं में से एक शाहजहां बेगम हैं। वह अब से 75 बरस पहले दिल्ली में पैदा हुईं। बंटवारा हुआ, तो मां-बाप उन्हें रावलपिंडी ले आए। कुछ दिनों बाद इस ख़ानदान ने कराची का रुख़ किया। यहां शाहजहां बेगम अपने बाप की उम्र के एक शख़्स से ब्याह दी गईं। उस शख़्स ने उन्हें छह बेटे दिए, लेकिन कमाना उसके बस की बात न थी। शाहजहां बेगम ने सिलाई की और अपने बेटे पाले, बूढ़ा शौहर कुछ दिनों साथ रहा, फिर उसने कोई दूसरा घर देख लिया और बीवी और छह बेटों को छोड़ गया। सिलाई की आमदनी से जब काम नहीं चला, तो शाहजहां बेगम ने फ़ैक्ट्रियों में काम किया। इस दौरान उन्होंने दो बेटों की मौत का सदमा उठाया। तीन बेटे अब अपने-अपने परिवार के साथ अलग रहते हैं। सबसे छोटा बेटा अपनी बीवी और छह बच्चों के साथ अस्सी गज़ के एक घर में उनके साथ रहता है, जो उसकी हिम्मत न हारने वाली मां ने पाई-पाई जोड़ कर बनाया है। शाहजहां बेगम अब पिचहत्तर बरस की हैं। पहले बेटों को पालने के लिए दिन-रात मेहनत करती थीं, अब पोते-पोतियों की ख़ातिर एक छोटी-सी दुकान कर ली है, जिसमें अपने बनाए हुए समोसे, रोल और चिप्स बेचती हैं। मुहल्ले के बड़े और बच्चे उन्हें 'चिप्स वाली अम्मां' के नाम से पुकारते हैं। औरतों के आलमी दिन पर जब मैं एक जलसे से लौट रही थी, तो मुझे शाहजहां बेगम बहुत याद आईं, जिन्हें किसी ने किसी जलसे में नहीं बुलाया। जो उस रोज़ भी अपनी दुकान में खड़ी समोसे और चिप्स तल रही थीं। उन्होंने और उन जैसी अनगिनत औरतों ने शायद आठ मार्च के बारे में कभी कुछ सुना भी न हो, लेकिन जिनकी हिम्मत और मेहनत से इस दुनिया की रौनक़ें क़ायम हैं। आठ मार्च, तमाम जश्न और होली के तमाम रंग दुनिया-भर की उन औरतों के नाम।

२२

करवट ले रही है अब औरतों की ताकत

वह समझने लगी है कि जो मर्दानी सोच उससे जोंक की तरह चिपकी है, उसे झटकना ही होगा

स्त्री विमर्श

मैत्रेयी पुष्पा

महिलाएं अपनी बौद्धिक तेजस्विता, कार्यक्षमता और विषयगत योग्यता के दम पर कितनी ही उपलब्धियां हासिल करती जाती हैं, जिद का मारा पुरुष वर्ग स्त्री को इन पहलुओं पर नकारात्मक दृष्टि से ही देखता है। ऐसा रवैया क्यों है? क्या औरत को हर हालत में नजरअंदाज करने का उपाय है? हां, सेक्स और प्रजनन तथा सेवा को छोड़कर स्त्री किस काम की! किसी शिक्षित, सभ्य माने जाने वाले पुरुष की इन पंक्तियों पर गौर फरमाइए, 'स्त्री-दलित विमर्श सुनते-सुनते कान पक गए हैं, जैसे 'भारत उभरती हुई विश्व-शक्ति' सुनते हुए। पूरे-पूरे गांव गरीबी, भुखमरी, अंधविश्वास, अशिक्षा, गंदगी, सूखा और बाढ़ से आक्रांत हैं। क्या कसबा, क्या गांव, बीस फीसदी स्त्रियां मर्दों द्वारा लाठी-डंडों से पीटी जाती हैं, बीस फीसदी औरतों के साथ सहमति या असहमति से व्यभिचार होता है, बीस फीसदी पीटकर मायके खदेड़ दी जाती हैं, फिर वापस नहीं लौटतीं। और उनके सशक्तीकरण के लिए हर स्टेट में मय ऑफिस-बंगला-कंार महिला आयोग बने हैं। उनसे पूछो कि गांव के माने जानती भी हैं? विमर्श ने क्या दिया उनको?'

बातें और भी लिखी हैं। धर्म को खंगालने की नेक सलाह भी दी है तथा पुरुष विमर्श करने के मुद्दे भी बताए हैं। मगर पेशतर बात यही है कि स्त्री विमर्श उन्हें नहीं सुहाता। वह भी क्या करें, उसी सामंती समाज और पुरुष-प्रधान सभ्यता के पाले हुए हैं, जो अशिक्षा, अंधविश्वास, गंदगी, सूखा, बाढ़ को देखकर विगलित स्वरों में हाय-हाय (जबानी जमा खर्च) तो करते हैं, मगर सक्रिय भागीदारी के नाम पर पीछे ही रहते हैं। इतने दिनों से होते आ रहे पुरुष विमर्श से स्त्री को क्या मिला? सवर्णों की दया से भीगी रचनाओं ने दलितों को क्या दिया? यही कि हम लिख रहे हैं, तुम रोते रहो।

आज स्त्री जिन अत्याचारों को उघाड़ रही है, उन्हें कभी पुरुष का पराक्रम माना गया था। महिला आयोग हों या महिला संगठन, ये सताई गई स्त्रियों के लिए समझदार स्त्रियों द्वारा बने हैं। जिन जुल्मों की थाह में पुलिस नहीं जा पाती, उनके लिए ही महिला पुलिस की जरूरत पड़ी। ये शिक्षित और हमदर्दी से भरी स्त्रियां गांवों के बारे में कितना जानती हैं, उससे पहले यह मान लेना होगा कि ये औरतों के बारे में पुरुषों से ज्यादा जानती हैं, क्योंकि वे खुद औरत हैं। इनमें से कई ने अगर शारीरिक प्रताड़ना नहीं झेली है, तो उन पर मानसिक दबाव भी कम नहीं रहे। ऐसा न होता, तो ये घरों की सुविधाएं छोड़कर गांवों की ओर न चल देतीं।

असल बात यही है कि दर्द ही चेतना का उद्बोधक होता है। और कुचलने, घोंटने वालों की जमातें गांव और शहर में एक-सी होती हैं। रूपकंवर को सती करें या नैना साहनी को तंदूर में भूनें, फर्क क्या है? हत्यारों के अट्टहास हों या साफ बच निकलने की साजिशें, अंतर यहां भी नहीं है। ऐसे सिलसिलों के खिलाफ आवाज उठाने के लिए महिलाएं निकली हैं, तो वे किसी भी रूप में औरत को बचाने की मुहिम छेड़े हुए हैं। कारण, पुरुष वर्चस्व की शौर्य गाथाएं, स्त्रियों के शिकार की कथाएं, मान्यता प्राप्त व्यभिचारों की धार्मिक चर्चाएं अब औरत के काम की नहीं। इसीलिए स्त्रियों ने स्त्री समाज के लिए चेतना संपन्न साहित्य देने की कोशिश की है। महिला आयोगों और संगठनों ने यातना भरी कठिन स्थितियों से निकलने के सहारे दिए हैं। औरतें, थोड़ी संख्या में ही सही, अब समझने लगी हैं कि कन्यादान करने वाले भाई-पिता के यहां फरियाद करने का कोई लाभ नहीं, अपने ऐतराज वहां पेश किए जाएं, जहां साहस और शक्ति से भरी स्त्रियां हैं।

महिलाओं पर 'प्रॉडक्ट' बनने के जुमले फेंकती आवाजें तब क्यों खामोश हो जाती हैं, जब कोई मर्द विज्ञापनों में इस्तेमाल होता है?

सवाल यह भी पूछा जाना चाहिए कि क्या वाकई महिलाओं के सहयोग और सशक्तीकरण में जुटी स्त्रियों के पास रहने की साफ-सुथरी जगह, ऑफिस या कार-जीप नहीं होनी चाहिए? क्या उन्हें अपना कामकाज तंबुओं में या दौड़-धूप बैलगाड़ियों/साइकिलों से करनी चाहिए, बस इसलिए कि ये औरतें हैं और मान लिया गया है कि ये अज्ञानी भी हैं। अतः इनको विलासिनी और निकम्मी कहा जा सकता है! स्त्रियों को दिए गए साधन और सुविधाएं अगर उनके विकास के लिए सहयोग और मदद हैं, तो वे ज्यादातर पुरुषों की आंख की किरकिरी हैं। उनकी चिंता यह है कि वर्चस्व के सामने खड़े विरोध और विद्रोह कैसे दबाए जाएं? अगर ये दबते नहीं, तो भटकाए ही जाएं।

शिकार को भी पता हो जाता है कि सम्मोहक संगीत की भूमिका क्या रही है, औरतों को कितना-क्या मालूम हो गया कि रियायतों और मिली हुई छूटों के भ्रम भविष्य की हथकड़ियां हैं। यही कारण है कि आपसी सहयोग बिखरता नहीं, यों झटके भी कम नहीं लगते, मगर स्त्रियों से ज्यादा झटके झेलने का अभ्यस्त भी कौन है? वे तो मानो अपने अतीत का प्रायश्चित कर रही हैं कि जो समय रो-रोकर फरियादें करते हुए गुजारा, उसकी भरपाई कितनी भारी पड़ रही है। सिर उठाने की फुरसत नहीं है, अब क्योंकि मुहिम ने जोर पकड़ा है। खतरे सामने खड़े हैं और सिर से कफन बंधा है, मगर आप कहते हैं, शौके-अय्याशी है! क्या आप ऋषि-मुनियों वाली परंपरा के क्रोधी पुरुष हैं, जो मर्दानी आज्ञाओं की अवज्ञाओं से चिढ़कर खौल उठते हैं? चौंकने की बात भी नहीं है। यह तो आपकी सुखानुभोगी लतों का ही खुलासा हो रहा है। औरत द्वारा जारी किए गए सैकड़ों-हजारों लिखित वक्तव्यों पर नजर नहीं गई?

कोई बात नहीं, अकसर ऐसे में पुरुष वर्ग 'हायबर्नेशन' में चला जाता है, क्योंकि यह भी मर्दाना चलन है, मौसेरे भाइयों के कुनबों में। जब कभी नजर में कलम वाली औरत आ गई, तो अचानक मर्दानी आवाजें चिंघाड़ उठती हैं, 'औरत, तू गलती पर है। तू बाजार का हिस्सा है, तू नंगी हो रही है, तू बाहर आकर उछल-कूद कर रही है। तू प्रोडक्ट बन गई।' कभी सोचा है, मर्द क्यों विज्ञापनों में आने पर गर्व करता है? उसका वहां कैसा इस्तेमाल हो रहा है, इस ब्योरे को कौन खोलेगा? बात तो यही है न कि आप औरत के क्रियाकलापों को उसके शरीर से जोड़कर देखने का चस्का पाले हुए हैं। यों तो आप औरत को बाहर आने पर बढ़-चढ़कर धिक्कारते हैं, मगर मर्दानी आंखें हैं कि उसके शरीर से जोंक की तरह चिपटी रहती हैं। आपका यह चलन बेईमानी भरा है, इसीलिए स्त्री ने इसे बेमानी माना है।

(लेखिका वरिष्ठ साहित्यकार हैं)

समाज

अंजलि सिन्हा

सबक सिखाये सीतारानी

जालन्धर में कॉलेज के ऐसे छात्र जो मस्ती के लिए लड़कियों के साथ छेड़खानी तथा यौन हिंसा करते हैं, उन्हें सीतारानी ने सकते में डाल दिया है। सब इंस्पेक्टर के तौर पर इलाके के थाने में तैनात सीतारानी ने ऐसे गुण्डों और अपराधी प्रवृत्ति के लड़कों पर लगाम कसने की ठानी है। ऐसे लड़के जो लड़कियों के साथ छेड़छाड़ करने की कोशिश करते हैं, उन्हें वहीं उठक-बैठक करा देना या अन्य तरीके से दण्डित करने की मुहिम उन्होंने अपने हाथ में ली हुई है। सीतारानी के हाथों 'प्रसाद' खा चुके ऐसे छात्रों ने उनसे 'बदला लेने का' एक नायाब तरीका ढूंढ निकाला है। इन दिनों युवाओं के बीच चर्चित हो चलीं सोशल नेटवर्किंग साइट्स के माध्यम से उनके खिलाफ यह अभियान चलाया जा रहा है। उनमें उन छात्रों ने पहल ली है जो सीतारानी की छेड़छाड़ विरोधी अभियान के 'शिकार' हुए हैं। आरकुट पर जारी इन कम्युनिटीज-'आई हेट सीतारानी' या 'वी हेट सीतारानी' पर सीतारानी के खिलाफ भद्दी गालियां लिखी होती हैं। यह सम्भव है कि सीतारानी के छेड़छाड़ विरोधी अभियान में कुछ निर्दोष लोग भी शिकार हुए हों, लेकिन यह सही है कि कॉलेज की लड़कियां सुकून महसूस कर रही हैं।

दरअसल जिन लड़कों ने होशहवास सम्भालने के बाद अपने घर-परिवार, आसपड़ोस, टीवी तथा अन्य स्रोतों से यही सीखा और समझा हो कि लड़कियां उपभोग की वस्तु हैं, लड़कियों के चरित्र पर धब्बा लगता है और लड़कों का चरित्र 'बेदाग' रहता है- उनके लिए यौन हिंसा करना या छेड़खानी करना कोई बड़ी बात नहीं है। इन्हें इस बात का एहसास ही नहीं कि वे दूसरों का अधिकार छीन रहे हैं। हमारे पितृसत्तात्मक समाज में भी यही मानसिकता काम करती है कि लड़के अच्छी नौकरी और अच्छी आय कमायें तो लड़की सुशील बनकर अपना परिवार ठीक से चलाये।

सीतारानी जैसे पुलिस अधिकारियों की जरूरत या उन्हें मिलनेवाली प्रशंसा यह बात भी साबित करती है कि हमारा समाज कितना पिछड़ा और गैरजनतांत्रिक है। किसी भी समाज में यदि डण्डे के दम पर, जोर-जबरदस्ती से अनुशासन सिखाना पड़े इसका तात्पर्य यही है कि वहां स्वअनुशासन नहीं है। एक जनतांत्रिक समाज में किसी का भी अधिकार छीना जाना अस्वाभाविक काम माना जाता है। हमारा समाज आधुनिकता की नयी-नयी सीढ़ियां चढ़ता तथा प्रगति की दिशा में आगे बढ़ते जाने की बात कर रहा है लेकिन महिलाओं के लिए सुरक्षित वातावरण तैयार करने में असफल साबित हुआ है।

अगर हम केरल से आनेवाले एक समाचार को देखें तो वह इसी असुरक्षा को रेखांकित करता है। मालूम हो कि वहां 11 वीं कक्षा में पढ़नेवाली तीन छात्राओं ने एक साथ आत्महत्या की। मरने के पहले उन्होंने जो सुसाइड नोट छोड़ा उसमें स्कूल के ही दो वरिष्ठ छात्रों के हाथों झेलनी पड़ रही यौन प्रताडना का जिक्र किया। हमेशा की तरह पुलिस ने यहां पर भी मामले को रफादफा करने की कोशिश की, लेकिन जब लोगों ने संगठित होकर आन्दोलन किया तो पुलिस को अपराधी छात्रों को गिरफ्तार करना पड़ा। केरल जैसा प्रान्त जो नारी समानता के मामले में, समाज सुधार के मामले में अन्य प्रांतों से बेहतर समझा जाता है, वहां अगर यह आलम है तो बाकी स्थानों का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

अगर हम अपने समाज की पड़ताल करें तो सार्वजनिक दायरे में स्थित पास-पड़ोस से लेकर स्कूल-कॉलेज तथा सभी कार्यस्थल असुरक्षित हैं। हर साल के पुलिस विभाग की रिपोर्ट या अन्य आंकड़ें बताते हैं कि घर भी सुरक्षित नहीं हैं। हिंसारहित वातावरण में सुकून से रहना आज भी औरत का अपना हक नहीं बन पाया है। समाज से अपेक्षा की जाती है कि महिलाओं का सम्मान करे लेकिन वह इसके लिए बाध्य है या यह गम्भीर अपराध है ऐसी सीख शुरू से ही नहीं मिलती है। हमारे घर-परिवार भी बराबरी के मूल्य-मान्यता बच्चों में नहीं गढ़ते हैं।

पाया गया है कि लड़कियों के साथ ऐसी यौनिक हिंसा करनेवाले किसी और आपराधिक पृष्ठभूमि के नहीं होते हैं। वे भी उन्हीं घरों से आते हैं जैसे घरों से लड़कियां आती हैं। कल्पना करें कि ऐसे लड़के घर से निकलते वक्त किस मानसिक तैयारी से निकलते होंगे? दिल्ली के एक स्कूल के छात्र-छात्राओं के एक दल को, जो आगरा घूमने गया था, जैसा अनुभव हुआ वह दिल दहलानेवाला रहा। मोटरसाइकिल सवार तीन युवकों ने स्कूल की छात्राओं के साथ अश्लील हरकत की जिसका विरोध टीचर्स और विद्यार्थी दोनों ने किया और उन्हें बस में घुसने से रोका। इससे नाराज हो वे तीनों बस के थोड़ी दूर गए और उन्होंने उसका रास्ता रोक कर बाकायदा अपने देसी तमंचे से बस में गोली चला दी, जिससे ड्राइवर और कण्डक्टर दोनों घायल हो गए। बाद में किसी तरह वह दल दिल्ली लौटने में सफल रहा।

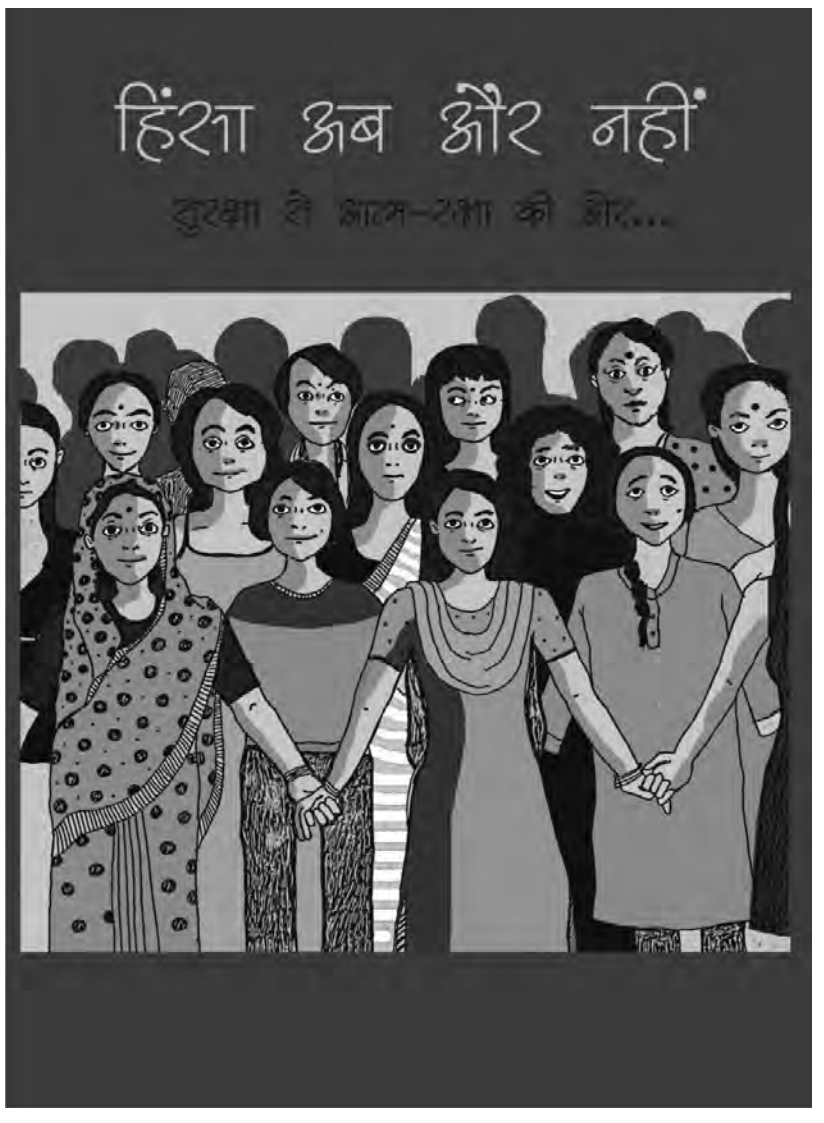

महिलाओं व बच्चों से जुड़ी हैं ज्यादा मानवाधिकार समस्याएं

नई दिल्ली, 9 दिसम्बर (एजेंसी)। अंतरराष्ट्रीय संगठन 'ह्यूमन राइट्स वाच' की 175 देशों में मानवाधिकार की स्थिति का जायजा लेती एक रिपोर्ट में भारत के बारे में कहा गया कि यहां महिलाओं, बच्चों और आदिवासियों के मानवाधिकार से जुड़ी समस्याएं ज्यादा है। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं का कहना है कि इसका मूल कारण सभी राज्यों में मानवाधिकार आयोग का नहीं होना है। 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकारों की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया था। बाद में विश्व निकाय ने सभी सदस्य देशों से वर्ष 1950 से 10 दिसम्बर को 'मानवाधिकार दिवस' मनाने को कहा। वर्ष 1948 में पारित हुए इस प्रस्ताव का यह 60 वां वर्ष है।

मानवाधिकार के क्षेत्र में वर्ष 2005 से सक्रिय और विभिन्न मामलों में अब तक 13 जनहित याचिका दायर कर चुके गुजरात के गैरसरकारी संगठन 'सिटीजन फोरम आन ह्यूमन राइट्स' के अनुसार वर्ष 1993 में भारतीय मानवाधिकार संरक्षण कानून बनने के 15 वर्ष बाद भी हर राज्य में मानवाधिकार आयोग के गठन के लिए गंभीरता से प्रयास नहीं किए गए। 'ह्यूमन राइट्स वाच' की इस साल जारी रिपोर्ट पर संगठन के राष्ट्रीय अध्यक्ष एसके भट्टाचार्य का पहना है ''केंद्र शासित प्रदेशों सहित करीब 16 राज्यों में मानवाधिकार आयोग नहीं है। ऐसे में सभी वर्गो के मानवाधिकारों की रक्षा कैसे सुनिश्चित की जा सकती है।'' भट्टाचार्य ने कहा कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति केजी बालकृष्णन ने एक मामले की सुनवाई में कई प्रदेशों में मानवाधिकार आयोग नहीं होने के चलते केंद्र और राज्यों को कारण बताओ नोटिस जारी किए है। इस पर अगली सुनवाई 28 दिसम्बर को होनी है। उन्होंने कहा कि जब कई राज्यों में मानवाधिकार हनन से जुड़ी शिकायतों पर ध्यान देने के लिए कोई निकाय ही नहीं हो तो वहां

अंतरराष्ट्रीय दिवस पर विशेष

■ **15 वर्ष बाद भी हर राज्य में नहीं किए गए आयोग गठन के प्रयास**

मानवाधिकारों की रक्षा कैसे सुनिश्चित की जा सकती है। भट्टाचार्य ने दावा किया कि वर्ष 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के बाद पाकिस्तानी जेलों में बंद भारतीय युद्धबंदियों की रिहाई और उनके परिजनों को मुआवजा दिलाने के लिए एक मानवाधिकार कार्यकर्ता ने आयोग में अर्जी दी थी पर आयोग ने उस पर 'नो कमेंट्स' लिखकर उसे विदेश मंत्रालय भेज दिया।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की वेबसाइट के अनुसार आयोग ने मौजूदा वर्ष में महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना के बिहारियों के खिलाफ अभियान, पुलिस हिरासत में हुई मौतों और बटला हाउस मुठभेड़ जैसे कुछ महत्वपूर्ण मामलों में सक्रियता दिखाई है। समानता के अधिकार के क्षेत्र में काम करने वाले राजधानी के संगठन 'अधिकार' के अध्यक्ष राजीव यादव ने कहा, ''बटला हाउस, सोहराबुद्दीन फर्जी मुठभेड़ या आरुषि हत्याकांड जैसे मामलों में मानवाधिकार का मुद्दा तुरंत सुर्खियों में आ जाता है लेकिन एक आम आदमी के पुलिस हिरासत में आए दिन होने वाले मानवाधिकार हनन पर कोई ध्यान नहीं देता।'' यादव ने कहा कि किसी संदिग्ध आतंकवादी से जुड़ा मानवाधिकार हनन का मुद्दा आम आदमी के मानवाधिकार हनन से ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं होता। उन्होंने कहा कि देश

में मानवाधिकार हनन सबसे ज्यादा पुलिस हिरासत में ही होता है। गरीब तबके के लोगों के मानवाधिकारों का हर क्षेत्र में हर वर्ग द्वारा हनन किया जाता है। ऐसे में उनके अधिकारों की रक्षा के लिए देश में कोई मुस्तैदी नहीं दिखाई देती। संयुक्त राष्ट्र हर पांच वर्ष बाद मानवाधिकार दिवस पर पुरस्कार देता है। वर्ष 1968 से यह पुरस्कार मानवाधिकार के क्षेत्र में काम कर रहे लोगों, संगठनों को दिया जा रहा है। वर्ष 2008 के विजेताओं में लुइस आर्बर, रामसे क्लार्क, डॉ. कैरोलीन गोम्स, डॉ. डेनिस मकवेज और मानवाधिकार हितैषी संगठन 'ह्यूमन राइट्स वाच' को चुना गया है। पाकिस्तान की पूर्व प्रधानमंत्री बेनजीर भुट्टो और सिस्टर डोरोथी को मरणोपरांत इस पुरस्कार के लिए चुना गया है।

चन्द्रपाल सिंह रावत

प्रसंग

सम्मान और सुरक्षा से वंचित होते वृद्ध

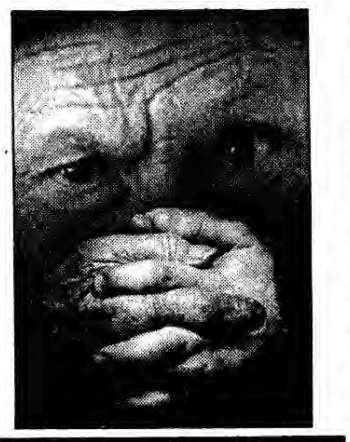

वरिष्ठ नागरिक दिवस

सीनियर सिटिजन अथवा वरिष्ठ नागरिकों के विषय में सर्वप्रथम 20वीं शताब्दी में तब विचार आया, जब अमेरिका में चर्च की सेवा करने के बाद पादरियों को बसाने की बात सामने आई। इसलिए चर्च के अन्तर्गत ही उनके रहने आदि की सुविधा प्रदान की गई। धीरे-धीरे यह सुविधा चर्च के वरिष्ठ सदस्यों को भी दी गई। विशेषकर जो शारीरिक दृष्टि से कमजोर हो गये थे। पर ये सुविधाएं निशुल्क नहीं थी। आज वहां 'ओल्ड एज होम' जगह-जगह बने हुए हैं और सरकार उनकी सुरक्षा के प्रति उत्तरदायी है।

यों तो भारतीय संस्कृति में बुजुर्गों की सेवा को महापुण्य माना जाता है, परंतु बदलते वक्त में अब देखा यह जाता है कि वरिष्ठ नागरिक अपने जीवन की संध्या जैसे-तैसे गुजारने पर विवश हैं। वह स्थिति संयुक्त परिवारों के बिखरने से और अधिक भयावह हुई है। आज की संतानें वृद्ध माता-पिता को उनकी किस्मत पर छोड़कर चली जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में वे बेसहारे अपने सुख-दुख का चिट्ठा स्वयं ही पढ़ते हैं। एकान्तवास कितना दुखदाई होता है यह उनकी मनःस्थिति से ही समझा जा सकता है। सन् 1947 में जब हमारा देश आजाद हुआ, एक भारतीय की औसत आयु 32 वर्ष थी। अब स्वास्थ्य संबंधी जानकारी और मेडिकल साइंस में नई-नई खोजों के कारण मृत्यु दर में कमी आ गई है। परिणाम यह हुआ कि 1990 में एक सर्वे के अनुसार अब एक भारतीय की औसत आयु 60 वर्ष हो गई है। इस दशक के अन्त तक हमारे यहां वरिष्ठ नागरिकों की जनसंख्या 10 करोड़ से भी ज्यादा हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्र ने उस देश में वृद्धों की संख्या अधिक मानी है जहां 60 वर्ष की आयु से अधिक लोगों का प्रतिशत 7 हो गया है। भारत में यह प्रतिशत 2001 में पार हो गया है। पर यह कहना भी सही होगा कि औसत आयु बढ़ने के साथ-साथ वरिष्ठ नागरिकों की उपेक्षा काफी बढ़ी है। फिर भी, आज के वरिष्ठ नागरिकों की दशा 15 वर्ष पूर्व के नागरिकों से बेहतर है।

इसमें संदेह नहीं कि वरिष्ठ नागरिक ज्ञान, विवेक और अनुभव के धनी हैं। जो स्वस्थ, सजग और सक्षम हैं, उनकी सेवाएं सामुदायिक विकास योजनाओं, साक्षरता अभियान आदि कार्यक्रमों में प्राप्त की जा सकती है। काम में व्यस्त, वरिष्ठ नागरिक फिर अपने आपको बूढ़ा नहीं समझता। यदि उनके बच्चे उन्हें मान-सम्मान देते रहें, तो 100 की आयु तक जीना असंभव नहीं है। अब तो कानूनी तौर पर भी बच्चे अपने माता-पिता के भरण-पोषण और सुख शांति के लिए उत्तरदायी हैं।

इसी वर्ष भारत सरकार ने 1 अगस्त 2008 से 'माता-पिता एवं वरिष्ठ नागरिक भरण-पोषण एवं कल्याण अधिनियम 2007' क्रियान्वित किया है। इस कानून के द्वारा वरिष्ठ नागरिकों के मान सम्मान में वृद्धि होगी और सरकार के सभी मंत्रालय उन्हें उचित सुविधाएं प्रदान करेंगे। वरिष्ठ नागरिकों की समस्याओं के निराकरण के लिए 'मेन्टीनेन्स ट्रिब्यूनल' का गठन राज्यों में होगा, जिनका फैसला 90 दिनों के अन्तर्गत कर दिया जाएगा। प्रत्येक राज्य में 'ओल्ड ऐज होम' स्थापित होंगे। इस प्रकार उनकी सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा की ओर ध्यान दिया गया है। इसी प्रकार 'नेशनल ओल्ड एज पेंशन स्कीम' भी वरिष्ठ नागरिकों के लिए आरंभ की गई है। इसके द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति कुछ बेहतर होगी।

यों तो हमारे संविधान में व्यक्ति की सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान नहीं है किंतु राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतों में धारा 38 (1), 39 (ई,एफ) और 41 में राज्य सरकारों का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वे अपने नागरिकों की आजीविका का प्रबंध करें, बेरोजगारी दूर करें, उनके स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का निराकरण करें। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार योजनाओं के क्रियान्वयन के प्रति ईमानदारी बरते।

वरिष्ठ नागरिक दिवस मनाने का अर्थ ही यह है कि उनकी सुख-सुविधा, सुरक्षा की ओर सरकार ध्यान दे। केवल कुछ योजनाएं बनाने से ही सफलता नहीं मिलती, जब तक कि उन योजनाओं का फल व्यक्ति विशेष तक न पहुंचे। यह भी जरूरी है कि आम वरिष्ठ नागरिकों को इन योजनाओं का ज्ञान हो, जैसे कि आर्थिक तौर पर कमजोर, वरिष्ठ नागरिकों के लिए पेंशन की सुविधा। 65 वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति पेंशन प्राप्त करने के अधिकारी हैं। इस योजना में असहाय व विधवा महिलाएं भी शामिल हैं।

जिस तरह आज हमारा समाज और जीवन मूल्य बदल रहे हैं, उसमें वृद्धावस्था के लिए बचत जरूरी है ताकि दूसरों के आगे हाथ न फैलाना पड़े। इस भौतिकवादी युग में बच्चों से ज्यादा उम्मीद न रखें क्योंकि संबंधों की अपेक्षा अब धन, संपत्ति को ही ज्यादा महत्व दिया जा रहा है। हां, समय के साथ खुद को ढालते हुए घर-परिवार में सामंजस्य बनाये रखना जरूरी है। अगर ऐसा है तो वृद्धावस्था सुखद व सार्थक है।

अंजलि सिन्हा

मुद्दा

समानता की परिभाषा में स्त्रियां कहां

किसी महिला की अश्लील सीडी बना कर उसका पांच साल तक यौनशोषण करनेवाले राममोहन गर्ग फिलवक्त जेल की सलाखों के पीछे हैं। मालूम हो यूपी में राज्यमंत्री का दर्जा पाए गर्ग मत्स्य विकास निगम के अध्यक्ष के तौर पर तैनात थे। निश्चित ही नेताओं द्वारा यौन अत्याचार का न यह कोई पहला मामला है और न आखिरी। ऐसे मामले अक्सर चर्चा में आते रहते हैं और वे कोशिशें भी उजागर होती रहती हैं जिसके तहत ऐसे मामले रफा-दफा करने की कवायद जारी रहती है।

ऐसे मामलों की संख्या भी काफी होती है जिसके तहत महिलाओं के प्रति अपनी कुंठाग्रस्त मानसिकता नेताओं के घृणित वक्तव्यों के जरिए उजागर होती रहती है। इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि ऐसे मामले कुछ समय तक चर्चा में रहते हैं और फिर भुला दिए जाते हैं। शेष समाज को समानता का पाठ पढ़ानेवाले इन अग्रणियों से यह भी नहीं पूछा जाता कि समानता की उनकी परिभाषा में स्त्रियां कहां स्थित हैं। लोगों को याद होगा कि चुनावों की आपाधापी में मध्यप्रदेश के पर्यटन मंत्री तुकोजीराव पवार को महिला निर्वाचन अधिकारी से बदसलूकी के आरोप में गिरफ्तार किया गया था। वे कांग्रेस प्रत्याशी सज्जनसिंह का पर्चा खारिज करने की मांग कर रहे थे। बताया जाता है कि उन्होंने महिला अधिकारी के मुंह पर पर्चा फेंका तथा उसे 'देख लेने' की धमकी दी थी। बाद में उनसे जब पूछा गया कि कैसे देख लेंगे तब उन्होंने टिप्पणी करते हुए भद्दा मजाक किया कि 'वह देखने की चीज नहीं है, उन्हें क्या देखेंगे?

भाजपा के प्रवक्ता और उसके शीर्षस्थ नेताओं में शुमार मुख्तार अब्बास नकवी का वक्तव्य भी लम्बे समय तक सुर्खियों में रहा था जिसमें उन्होंने मुंबई में हुए आतंकी हमलों के खिलाफ हुए प्रदर्शनों में महिलाओं की सहभागिता को लेकर विवादास्पद वक्तव्य दिए थे। 'लिपस्टिक, पावडर' लगानेवाली ऐसी महिलाओं को उन्होंने अपनी हद में रहने के लिए कहा था। संसद में महिलाओं के लिए आरक्षण को लेकर चली चर्चा में जनता दल (एकीकृत) के वर्तमान अध्यक्ष शरद यादव द्वारा कुछ वर्ष पहले की गयी टिप्पणी तो एक तरह से मिथकीय दर्जा हासिल कर चुकी है। इस मांग की समर्थक महिलाओं को उन्होंने 'परकटी' महिलाओं के तौर पर सम्बोधित किया था। ऐसा नहीं है कि इन सत्ताधारियों तथा राजनीतिकों की जुबान पर गलती से ऐसे शब्द आते हैं। आम तौर पर यही देखा जा सकता है कि इनके विचार और मान्यताएं घोर स्त्रीद्रोही हैं, जिसका प्रतिबिम्बन ऐसे वक्तव्यों में दिखता है। सार्वजनिक दायरे में वे महिलाओं को मजबूरी में सह पाते हैं और कदम-कदम पर उत्पीड़न के लिए तैयार हो जाते हैं।

पिछले दिनों जर्मन किशोरी के बलात्कार के मामले में गोवा के विवादास्पद मंत्री के बेटे के खिलाफ 14 वर्षीय जर्मन बालिका ने प्रथम श्रेणी के न्यायिक मैजिस्ट्रेट के सामने बलात्कार का आरोप लगाया था तथा मेडिकल परीक्षण में बलात्कार की पुष्टि भी हुई थी। बाद में लड़की की मां एरिज ने केस वापसी के लिए अपील भेज कर अपनी आपबीती सामने लायी थी। अपील में एरिज ने लिखा था 'हम परेशान और निराश हो गए हैं तथा डरे हुए हैं। हम जिस दिन शिकायत दर्ज करने गए थे, उसके एक दिन पहले ही हमारे वकील पर जानलेवा हमला हुआ था। हमने यह समझ लिया है कि धनी और सत्तासम्पन्न लोगों के खिलाफ शिकायत दर्ज करना खुद के लिए ही जोखिम मोल लेना है।' वैसे तो आम लोगों की मानसिकता भी इसी किस्म की होती है, लेकिन अपने आप को समाज का अग्रणी कहलानेवालों से- जिन्हें विशेष ओहदा हासिल है या जो अधिकार संपन्न हैं- क्या अलग उम्मीद नहीं की जानी चाहिए? आम जनों के हितों की रक्षा तथा नागरिक सुरक्षा की जिम्मेदारी स्वतः अपने ऊपर लेनेवालों से क्या इतनी अपेक्षा करना गलत है। हाल में एक और अध्ययन रिपोर्ट आयी थी जो अंतरराष्ट्रीय स्तर की थी। 'वर्ल्ड इकोनोमिक फोरम' ने कुल 130 देशों में महिलाओं के खिलाफ होने वाले भेदभाव पर सर्वेक्षण कराया था जिसमें भारत का स्थान 113 वें पर था। यह अध्ययन नौकरी, शिक्षा, राजनीति तथा स्वास्थ्य में महिलाओं की स्थिति पर कराया गया था।

अगर सत्ताधारी स्त्री विरोधी सोच के नहीं होते तो उनका न सिर्फ व्यवहार बराबरी और सम्मान का बढ़ावा देने वाला होता बल्कि वे समाज में भी जेण्डर बराबरी लाने के लिए फैसले लेते। महिलाओं के खिलाफ होनेवाली हिंसा पर सख्त रुख अख्तियार कर माहौल को बदलते, सार्वजनिक स्थानों को सुरक्षित करने के लिए कदम बढ़ाते। उल्टे यही देखने में आता है कि वे ऐसे तत्वों को प्रश्रय देते हैं जो अपराधी हैं या महिलाओं पर बेडियां लगाने के पक्षधर हैं।

भंवरी देवी के बलात्कारियों का सार्वजनिक तौर पर बचाव करनेवाले, जबर्दस्ती सती बना दी गयी रूपकुंवर को सती मइया घोषित करने में पूरा जोर लगानेवाले या अपनी मर्जी से शादी रचनेवाली लड़कियों को फांसी देने के खाप पंचायत के फैसलों को औचित्य प्रदान करनेवाले उन्ही में से पैदा होते हैं।

(लेखिका 'स्त्री अधिकार संगठन' से सम्बद्ध हैं)

बजट एक नजर में

1- वर्ष 2009-10 के दौरान 953231 करोड़ रुपए कुल खर्च का अनुमान। इसमें योजना खर्च का आकलन 285149 करोड़ रुपए और गैर योजना खर्च का आकलन 668028 करोड़ रुपए।

2- राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना के लिए इस दौरान 30100 करोड़ रुपए का प्रावधान।

3- सर्व शिक्षा अभियान के तहत 98 फीसद बस्तियों को प्राथमिक स्कूलों के दायरे में लाया गया और 2003-04 के मुकाबले 2008-09 के बीच इस कार्यक्रम के लिए राशि में 571 फीसद का इजाफा।

4- वर्ष 2009-10 के लिए मिड डे मील योजना के तहत 8000 करोड़ रुपए का प्रावधान।

5- वर्ष 2009-10 में एकीकृत बाल विकास योजना के लिए 6705 करोड़ रुपए का प्रस्ताव।

6- जवाहरलाल नेहरू शहरी नवीकरण मिशन के तहत 39 हजार करोड़ रुपए की लागत वाली 386 परियोजनाएं मंजूर। इसी वर्ष के लिए 11842 करोड़ रुपए का प्रावधान।

7- राजीव गांधी ग्रामीण पेयजल मिशन के लिए 7400 करोड़ रुपए।

8- ग्रामीण स्वच्छता योजना के लिए 1200 करोड़ रुपए।

9- राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के लिए 12070 करोड़ रुपए।

10- भारत निर्माण के लिए 40900 करोड़ रुपए का प्रावधान।

11- भोजन, उर्वरक और पेट्रोलियम सहित प्रमुख सबसिडी का आकलन 95579 करोड़ रुपए।

12- रक्षा प्रावधान को बढ़ा कर 141703 करोड़ रुपए किया गया। इसमें 54824 करोड़ रुपए का पूंजी खर्च शामिल।

13- वर्ष 2009-10 के लिए केंद्र का कुल कर राजस्व का आकलन 500096 करोड़ रुपए किया गया।

14- इसके साथ ही राजस्व खर्च 848085 करोड़ रुपए का आकलन।

15- राजस्व घाटा सकल घरेलू उत्पाद का चार फीसद और वित्तीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 5.5 फीसद का अनुमान।

माफ करें, यह तो पुरुष विमर्श है

राजकिशोर

नारीवाद मुख्यतः एक राजनीतिक आंदोलन है। यह पुरुष राजनीति को स्त्री राजनीति से संतुलित करना चाहता है। वैसे तो स्त्री आदिकाल से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करती रही है। उसे मुख्य साहित्य में स्थान नहीं मिला, तो उसने लोकगीतों, लोककथाओं का माध्यम चुना।

बहुत ही खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हिंदी में जिसे सर्वसम्मति से स्त्री विमर्श कहा जाता है, वह मुख्यतः पुरुष विमर्श है। उसमें स्त्री की चर्चा कम, पुरुष की चर्चा ज्यादा होती है। अगर सारी चर्चा यहीं तक सीमित रहे कि पुरुष कैसा होता है, उसने स्त्री के साथ क्या किया है, वह स्त्री के साथ क्या कर रहा है, तो इसे पुरुष विमर्श नहीं तो और क्या कहा जाए? जैसे रीतिकालीन साहित्य का लक्ष्य स्त्री चर्चा थी यानी स्त्री का सौंदर्य, स्त्रियों के प्रकार, स्त्रियों के कौशल, स्त्री के साथ प्रेम या रति प्रसंग, वैसे ही जिसे स्त्री विमर्श का साहित्य कहा जा रहा है, वह मुख्यतः पुरुषों के स्वभावगत लक्षणों, उनकी दमनकारी विधियों और उसके द्वारा होने वाला स्त्रियों का शोषण आदि पर केंद्रित होता है। इसमें स्त्री का अपना संघर्ष कम है, पुरुष के प्रति शिकायत ज्यादा। यह काफी हद तक स्वाभाविक है, क्योंकि किसी भी स्त्री के आंसुओं में पुरुषों के जुल्मो-सितम का लंबा इतिहास समाया हुआ होता है। 'पर्सनल इज पोलिटिकल' को सही मान लें, हालांकि मुझे इसमें थोड़ी शंका है, तो नारीवाद मुख्यतः एक राजनीतिक आंदोलन है। यह पुरुष राजनीति को स्त्री राजनीति से संतुलित करना चाहता है। वैसे तो स्त्री आदिकाल से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करती रही है। उसे मुख्य साहित्य में स्थान नहीं मिला, तो उसने लोकगीतों, लोककथाओं का माध्यम चुना। हिंदी की लोक भाषाओं – अवधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, बुंदेलखंडी आदि – में चित्रित स्त्री की व्यथा को एकत्रित किया जाए, तो एक और गंगा बह निकलेगी। खड़ी बोली प्रारंभ से ही पुरुष-भाषा रही है। लेकिन वह हिंदी क्षेत्र में आधुनिक चेतना के उदय की भाषा भी है। इस उदय में स्त्रियां भी भागीदार रही हैं। अतः खड़ी बोली हिंदी साहित्य के प्रारंभ से ही स्त्री स्वर भी उपस्थित दिखाई देता है। यह स्वर पिछले एक द क में तीव्र और व्यापक हुआ है। इसलिए दलित विमर्श की तरह एक अलग नाम भी मिला है – स्त्री विमर्श।

अगर इतने साहित्यिक और वैचारिक विकास के बावजूद स्त्री स्वर अभी भी पुरुष समाज को अपराधी ठहराने पर ही केंद्रित है, तो मैं कहना चाहूंगा कि पुरुष को पर्याप्त पहचान लिया गया है, उसके दोहरे स्वभाव और पुरुष वर्चस्व की इस चली आ रही संस्कृति को मोटामोटी बहुत बारीकी से समझ लिया गया है, इसी विषय को दुहराते जाने से क्या फायदा? साहित्य में पुनरावृत्ति नाम का दोष भी होता है। यह दोष इस समय इतना फैला हुआ है कि एक स्त्री लेखक और दूसरी स्त्री लेखक के स्वरों में फर्क करना मुश्किल हो गया है। जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है। ऐसे कब तक चलेगा? हिंदी का स्वर स्वर प्रौढ़ होने से हिचक क्यों कर रहा है? वास्तविक स्त्री विमर्श की ओर बढ़ने से वह डर क्यों रहा है? अगर नारी विमर्श में पुरुष विमर्श भी स्वस्थ और पूर्णतावादी होता, तो हमारी मित्रगण देख पातीं कि ऐसे पुरुषों की भी एक परंपरा रही है, जिन्होंने स्त्री के श्रेष्ठ गुणों को अपने में समाने का प्रयास किया है, जिस तरह अनेक स्त्रियों ने पुरुषों के लिए स्वाभाविक माने जाने वाली अधिकार चेतना और खूंखारियत की नकल करने की कोशिश की है। दुख की बात है कि जिस तरह वर्तमान स्त्री विमर्श में इस दूसरी प्रवृत्ति को समझने और उसकी निंदा करने की समझ दिखाई नहीं देती, वैसे ही पुरुष संस्कृति की इस दूसरी धारा की पूर्ण अवज्ञा है, जिसमें पुरुष स्त्री के मानव गुणों को अपनाकर एक समेकित मनुष्य बनना चाहता है। उदाहरण के लिए, स्त्रीत्व के बहुत-से गुण ईसा मसीह, गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी में देखे जा सकते हैं। सच तो यह है कि ये पुरुष कम, स्त्री ज्यादा लगते हैं। गांधी जी का तो मानना ही था कि वे अपने बच्चों के पिता और माता दोनों ही हैं। उनकी पौत्री मनु गांधी ने अपनी एक किताब के शीर्षक में गांधी जी को अपनी मां बताया है। प्रेमचंद ने कहा है कि जब पुरुष में स्त्री के गुण आ जाते हैं, तब वह देवता बन जाता है। ऐसे देवता-स्वरूप पुरुषों की समानांतर चर्चा चलती रहती, तो स्त्री विमर्श इस संभावना को भी देख पाता कि पुरुष संस्कृति में भी महत्वपूर्ण अंतर्विरोध हैं, जिसकी कोख से वह सज्जन पुरुष निकल सकता है, जिसकी स्त्री विमर्शकारों को प्रतीक्षा है। ऐसा कोई आदर्शवाद नहीं है, जिसमें जीवन के यथार्थ की अनुगूंज नहीं सुनाई पड़ती हो। इसी तरह, ऐसा कोई यथार्थवाद नहीं है, जिसमें आदर्शवाद के कुछ तत्व न हों। इसी द्वंद्वात्मकता के माध्यम से ही वर्तमान कलुषित संस्कृति के बीच से एक बेहतर संस्कृति की पीठिका खोजी जा सकती है और उसमें नए रंग-रूप भरे जा सकते हैं। एक बात और। आज तक कोई ऐसा महत्वपूर्ण आंदोलन नहीं हुआ, जिसके सदस्यों ने अपने लिए आचरण संहिता न बनाई हो। ईसा मसीह को मानने वाला किस तरह की जिंदगी जिएगा, इसकी एक लिखित-अलिखित संहिता थी। इस संहिता का एक सूत्र यह था कि अगर कोई तुम्हारा कोट मांगे, तो तुम उसे अपनी कमीज भी उतार कर दे दो। गौतम बुद्ध का अनुयायी किसी भी स्थिति में अन्याय और हिंसा नहीं कर सकता था। गांधी जी ने तो अपने पीछे चलने वालों के लिए इतने नियम-उपनियम बना रखे थे कि उन पर खुद गांधी जी का भी चलना मुश्किल जान पड़ता था। वे अपनी कसौटियों से स्खलित होते रहते थे। उदाहरण के लिए, उन्होंने स्वयं बताया है कि अंतिम दिनों तक उन्हें स्वप्नदोष होता रहा। प्रश्न यह है, स्त्री विमर्श अपने विमर्शकारों को किस तरह का जीवन बिताने की सलाह देता है? पुरुष की अधीनता में दिन और रात गुजारती जाओ, इसकी सारी सुरक्षाओं का लाभ लेती रहो और अपने साहित्यिक पाठिकाओं-पाठकों को बताती रहो कि ये मर्द बड़े हरामी होते हैं। सारी मांग पुरुषों से है, स्त्रियों से कोई अपेक्षा नहीं कि उनका चरित्र या व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए। इतने एकतरफापन से कोई बड़ी चीज नहीं उभर सकती।

(लेखक इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, नई दिल्ली में वरिष्ठ फेलो हैं)
truthonly@gmail.com

जागोरी ने जगाया महिलाओं को

कार्यशाला में प्रशासनिक उपेक्षा का मुद्दा छाया रहा

छतरपुर 23 दिसम्बर. संवाददाता. महिला स्वयंसेवी संगठरनों के माध्यम से देश की जानी--मानी स्वयं सेवी संस्था जागोरी नई दिल्ली का दो सदस्यीय दल छतरपुर जिले की मीरा सिंह के बुलावे पर इन दिनों जिले के प्रवास पर है. यहां जटाशंकर पैलेस में आज से दो दिनों की आवासीय कार्यशाला प्रारंभ हुई जिसमें प्रशसनिक असहयोग और उपेक्षा का मुद्दा छाया रहा.

घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम 2005 के जरिये महिलाओं को जागरुक करने जिले में विशेष कार्ययोजना में पर काम हो रहा है. खजुराहो के बाद आज से इसी संदर्भ में यहां दो दिवसीय फालोअप अवासीय कार्यशाला प्रारंभ हुई अनेक महिला स्वयंसेवियों सहित कार्यक्रम की आयोजक मीरा सिंह ने इस महत्वपूर्ण प्रयोजन में जनजागरण हेतु प्रशासनिक उपेक्षा की स्थिति सामने रखी.

मीरा सिंह का कहना था कि प्रशासन के अधिकारियों द्वारा साकारात्मक सहयोग तो दूर उनके पास चर्चा करने का भी समय नहीं है उन्होंने अफसोस जताते हुए कहा कि इस तरह की स्थिति बनने से एक अच्छे उद्देश्य का सामाजिक अभियान प्रभावित होता है. कार्यशाला में मीडिया की ओर से सुझाव दिया गया कि स्वयं सेवी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को इस अभियान में सकारात्मक नताजे और उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक है. औपचारिक कार्य अथवा अभियान से बुंदेलखण्ड जैसे पिछड़े क्षेत्र के लिए इस कमी को दूर करना आवश्यक है. इस सुझाव पर दिल्ली की दोनों प्रतिनिधि सहित कार्यशाला में सहभागी अनेक सदस्यों ने सहमति जताई और इस ओर विशेष ध्यान दिए जाने की बात कही.

जागोरी नई दिल्ली की प्रतिनिधि मधु ने आवासीय कार्यशाला में आयोजन का उद्देश्य, कार्य करने के तरीकों के अतिरिक्त घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम 2005 की रूपरेखा से अवगत कराया. उनका कहना था कि इस अंचल में सामूहिक सहयोग से बहुत काम करने की आवश्यकता है

घरेलू हिंसा एक्ट के अमल में प्रशासन लापरवाह

फालोअप कार्यशाला में सामने आए तथ्य

छतरपुर, 23 दिसंबर (कासं)।

घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम 2005 की प्रभावी क्रियान्वयन के लिए एक्शन एड एसोसिएशन द्वारा चलाए जा रहे समयबद्ध कार्यक्रम के तहत आज से होटल जटाशंकर पैलेस में दो दिवसीय फालोअप कार्यशाला का शुभारंभ हुआ। कार्यशाला में सुरक्षा अधिकारियों व सेवा प्रदाताओं ने सहभागिता की। कार्यशाला में एक प्रमुख तथ्य यह सामने आया कि एक्ट के अमल की मुख्य जिम्मेदारी प्रशासन की है लेकिन प्रशासन इसको अमलीजामा पहनाने में लापरवाह बना हुआ है।

कार्यशाला में जागो री संस्था दिल्ली की रिसोर्स पर्सन मधु और अनुप्रिया के अलावा महिला अधिकार संदर्भ केंद्र भोपाल की राज्य समन्वयक पुष्पा सिंह, एक्शन एड एसोसिएशन की जिला समन्वयक मीरा सिंह, बिजावर की एडवोकेट सुषमा विश्वकर्मा, आमंत्रण महिला मंडल की जयंती अहिरवार, आकाश युवक संस्थान के मनीष जैन, परिवार परामर्श केंद्र की अनीता सिंह, निषि सिंह, महिला अधिकार संदर्भ केंद्र की रजिया बानो, गीता जाटव के अलावा महिला एवं बाल विकास विभाग की विभिन्न परियोजनाओं की सुपरवाईजर उपस्थित थीं। महिला एवं बाल विकास अधिकारियों को इस एक्ट के तहत सुरक्षा अधिकारी बनाया गया है जबकि स्वयंसेवी संगठन सेवा प्रदाता की भूमिका में हैं। कार्यशाला में दिल्ली की मधु ने कहा कि घरेलू हिंसा एक्ट जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे से जुड़े सभी पक्षों को पूरी जानकारी होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि सीढ़ी दर सीढ़ी आगे बढ़ना पड़ेगा और इसमें तत्काल परिणाम की उम्मीद करना बेमानी है। दिल्ली की ही अनुप्रिया ने कहा कि महिला हिंसा की समझ होना बहुत जरूरी है। एक्ट को समझकर उस पर अमल करने की रणनीति क्या होनी चाहिए? यह भी देखना होगा। मीरा सिंह ने स्पष्ट कहा कि समाज और प्रशासन के बीच एनजीओ एक कड़ी के रूप में है। इस पर अमल की जिम्मेदारी प्रशासन की है लेकिन प्रशासन सहयोग नहीं करता। महिला बाल विकास बांरीगढ़ परियोजना के हेमंत ने आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने पर जोर दिया। ज्यादातर सुपरवाईजरों ने चर्चा में साफ कहा कि उन्हें घरेलू हिंसा एक्ट की ज्यादा जानकारी नहीं है।

मीडिया ● सुधीश पचौरी

घंटी बजाओ

ऊपर एक घर से मार-पिटाई की आवाजें आती हैं। मर्द की डांटने की आवाजें और पिटती औरत की चीखें सुनाई देती हैं। कुछ बच्चे सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते दिखते हैं। वे एक घर के आगे खड़े होकर घर की घंटी बजाते हैं।

कुछ देर में एक आदमी दरवाजा खोलता है वह चकित-सा होता है बच्चों के झुंड को अचानक सामने देखकर। उनमें कुछ छोटे और बड़े बच्चे है। घर का आदमी ठिठक कर पूछता है: क्या हुआ?

एक लड़का कहता है : बॉल!

आदमी दरवाजा भेड़कर अंदर होता है और फिर किवाड़ खोल कर झांकते हुए कहता है: यहां कोई बॉल नहीं है!

एक बच्चा अपने हाथ की टेनिस बॉल को उछालता रहता है। कैमरा बॉल उछलने पर फोकस करता है और दृश्य खत्म होता है।

संदेश है:

घंटी बजाओ। घरेलू हिंसा को रोको। इस विज्ञापन के बनवाने वालों के नाम आते हैं: ब्रेक थ्रू यूनीफेम।

इसी क्रम में दूसरा विज्ञापन इस तरह चलता है। घर वैसा ही है। मुहल्ला वैसा ही है जैसा पहले वाले विज्ञापन में था। शायद वही है।

ओपनिंग सीनों में वही मारने-पीटने की आवाजें एक घर से उठती हुई।

ऐन पड़ोस के घर में रहने वाला एक युवा निकल कर बाल्कनीनुमा लंबे कॉमन गलियारे में जाता है जो सब घरों को जोड़े है। वह उस घर की घंटी बजाता है जिस घर से आवाजें आ रही थीं। उस घर में रहने वाला आदमी किवाड़ों की झिरी खोलकर झांकता है और बिना बोले पूछता-सा है कि क्या है? बाहर वाला घरवाले आदमी के ठिठकने पर कहता है: दूध? थोड़ा दूध होगा?

घरवाला अंदर जाकर फिर कटोरी में दूध लेकर लौटता है और दरवाजा खोलकर झांकता है। बाहर कोई नहीं है। वह गलियारे में इधर-उधर देखता है लेकिन बाहर वाला आदमी नहीं दिखता।

इसी का एक और इसी तरह का संस्करण आता है। सबका संदेश है।

घंटी बजाओ

घरेलू हिंसा को रोको।

प्रायोजक : ब्रेक थ्रू, यूनीफेम।

यह कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक संदेश मूलक विज्ञापनों की श्रृंखला है जो इन दिनों चैनलों पर प्रायः प्रसारित होती रहती है। ये घरेलू हिंसा को रोकने का संदेश देते हैं। ये घरों के आसपास के पड़ौस को जागृत करने के लिए बनाए गए हैं और सभी को संबोधित हैं।

विज्ञापन बनाने वालों की पूर्व मान्यता है कि घरेलू हिंसा हर घर में संभव है और हर घर का एक पड़ोस होता है। इस अमानवीय हिंसा को रोकने के लिए पड़ोस को, पड़ोसी को आगे आना चाहिए। मुहल्ले को आगे आना चाहिए।

ये निजी स्पेस में और पब्लिक स्पेस में विजिलांते भाव जागृत करना चाहते हैं। पड़ोस को प्रोएक्टिव करना चाहते हैं।

आइडिया अच्छा है। भारतीय घरों में घरेलू हिंसा की व्याप्ति इतनी है कि वह स्वाभाविक लगती है। अलग से दिखती नहीं। घरों में हिंसा होती रहती है। इसका अहसास नहीं होता क्योंकि घरों के ढांचे में घर की निजता यानी प्राइवेसी ऐसी किलेबंदी बन जाती है कि आमतौर पर कोई बीच में बोलने नहीं जाता। घरेलू हिंसा अबाध जारी रहती है। घरेलू हिंसा के अनेक रूप, अनेक स्तर हो सकते हैं। मार-पिटाई तो बहुत व्यक्त रूप हैं जो अक्सर नजर आते हैं, सुनाई पड़ते हैं। और भी गुप-चुप से हिंसक व्यवहार हैं जो घरों में चलते-रहते हैं।

घरेलू हिंसा का सबसे ज्यादा शिकार गृहिणियां ही होती हैं, उनके बच्चे होते हैं। बहुत कम रिपोर्ट बाहर आ पाती है जब उत्पीड़न हद से गुजर जाते हैं। और कोई चारा नहीं बचता तब एकाध औरत बोल उठती है। पड़ोसियों को जमा करती है और थाना-कचहरी होती है।

उसके बाद की कहानी बेघर और घर के बीच बेगानेपन की अनंत कहानी बनती है। थाने रपट लिखें तो न्याय नहीं मिलता। अदालतें भी न्याय नहीं दे पातीं। घर के ढांचे में ही ताकतवर होकर बैठा मर्दवाद औरत पर हाथ उठाता रहता है।

ये विज्ञापन दो-तीन प्रोएक्टिव संदेश देते हैं:

1: ये घरेलू हिंसा को सार्वजनिक कर और स्वीकार कर उसे रोकने की बात कहते हैं।

2: इस हिंसा को रोकने के लिए ये पड़ोसियों का आह्वान करते हैं। यानी कि वे नागरिक हस्तक्षेप को प्राथमिक समझते हैं, वैसा ही कहते हैं। यही इनका विजिलांत तत्व है।

3: ये नागरिक को सामाजिक भूमिका देते हैं और पड़ोस को अपने में बंद न मानकर दूसरे के प्रति जिम्मेदार बनाने का अहसास पैदा करते हैं। ये इस तरह कुछ नए पड़ोसी को बनाते हैं जो अपने काम से काम नहीं रखे बल्कि दूसरे आहत-पीड़ित की मदद करे, उसके गलत काम को रोके। कहने की जरूरत नहीं कि ये विज्ञापन बेहद व्यंजनात्मक ढंग से संदेश देते हैं।

हिंसा के सीन नहीं दिखाए जाते। प्रतिकार के चिन्ह भी उग्र भाव के नहीं हैं। बस इशारे हैं। बच्चे के हाथ में कुछ सख्त नजर से देखते हुए उछलती जाती बॉल।

तालिबान का समाज

अलका आर्य

पाकिस्तान

हाल में पाकिस्तान सरकार ने पश्चिमोत्तर सीमांत सूबे की अशांत स्वात घाटी में तालिबान के साथ जो समझौता किया है, उसके तहत वहां शरीयत कानून लागू होगा। कट्टरपंथी और स्त्री विरोधी सोच पर आधारित तालिबान का इतिहास दीवार पर लिखी इबारत को साफ-साफ पढ़ने के लिए आगाह करता है। तालिबान ने अफगानिस्तान में एक दशक से ज्यादा राज किया और महिलाओं की शिक्षा, नौकरी या कहीं घूमने पर पाबंदी लगा दी थी। फिर उसी ढर्रे पर चलते हुए पाकिस्तान की स्वात घाटी में तकरीबन दो सौ स्कूल तबाह कर दिए या लड़कियों की शिक्षा पर पाबंदी लगा दी और बलूचिस्तान की राजधानी क्वेटा के रेस्तरांओं में महिलाओं के जाने की मनाही के सख्त आदेश जारी किए।

गौरतलब है कि स्थानीय तालिबान नेता मौलाना फजलुल्लाह की स्वात में अक्तूबर 2007 से गठित समांतर सरकार ने लड़कियों की शिक्षा को खास निशाना बनाया। नतीजतन इस समय लगभग एक लाख लड़कियां स्कूल में पढ़ने से वंचित हो चुकी हैं। ऐसे हालात और अधिक निराश करते हैं जब पता चलता है कि यहां महिला साक्षरता दर महज तीन फीसद है, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की साक्षरता दर पैंतीस फीसद है। कबाइली इलाके में इतने बड़े फासले को पाटने की कोई खास कोशिश सरकार की तरफ से नहीं की गई। तालीम को बढ़ावा देने और पिछड़ेपन को दूर करने के मकसद से सरकारी और गैरसरकारी संगठनों ने औपचारिक या अनौपचारिक स्कूल खोलने की कोशिश की, लेकिन स्थानीय ताकतवर जमींदारों के विरोध के बाद वहां राजनीतिक दखलंदाजी होने लगी और महिलाओं के बीच साक्षरता के प्रसार की सारी योजनाएं धरी की धरी रह गईं।

करीब छह महीने पहले पश्चिमोत्तर सीमांत सूबे की सरकार ने उपद्रवग्रस्त स्वात घाटी में लड़कियों के स्कूलों पर बम गिराने और जलाने वाली मुहिम के खिलाफ उर्दू अंखबारों में विज्ञापन भी छपवाए। एक भावनात्मक विज्ञापन में रोती हुई एक बच्ची कह रही थी- तालीम हासिल करना मेरा मौलिक अधिकार है, लेकिन कट्टरपंथी इस मौलिक अधिकार को हासिल करने में बहुत बड़ी रुकावट बने हुए हैं। इस विज्ञापन के बाद अगले ही दिन स्थानीय तालिबान ने स्वात घाटी में पाक फौज की मौजूदगी में लड़कियों के कई स्कूलों पर बमबारी की।

स्त्री अधिकारों को मुख्य रूप से निशाना बनाने वाले तालिबान ने हाल ही में कबाइली इलाकों की महिलाओं को बेनजीर इनकम सपोर्ट प्रोग्राम के तहत आर्थिक मदद लेने पर जान से मारने की धमकी दी थी। इसके बाद इस प्रोग्राम की अध्यक्ष फरजाना रजा को सफाई देनी पड़ी थी कि इस सरकारी कार्यक्रम में कुछ भी गैरइस्लामी नहीं है और इसके पीछे नेक मंशा गरीब और जरूरतमंद महिलाओं की मदद करना है। ऐसे में इस कार्यक्रम से महिलाओं को नैतिक और आर्थिक रूप से भ्रष्ट करने का सवाल ही नहीं उठता। तालिबान के सोच के मद्देनजर यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि हर दूसरे महीने दो हजार रुपए की आर्थिक मदद के लिए महिलाओं को न तो कार्ड पर फोटो लगाने की जरूरत है और न ही रकम पाने के लिए वे घर से बाहर निकल सकती हैं। फोटो की जगह अंगूठा लगाना होगा और रकम डाक के जरिए घर पहुंच जाएगी।

सच तो यह है कि बेनजीर भुट्टो की राजनीतिक शहादत की कीमत वसूलने वाली पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी बेशक खुद को प्रगतिशील कहे, लेकिन उसके तमाम दावों ने निराश ही किया है। सरकार ने बार-बार यही संदेश दिया है कि कट्टरपंथियों के साथ होने वाले समझौतों में महिला अधिकारों के साथ समझौता करने में उसे कोई हिचक नहीं है। पांच महीने पहले पाकिस्तान के जाफराबाद जिले के एक गांव में उस्मानी कबीले के कुछ पुरुषों ने अपने ही कबीले की तीन लड़कियों की हत्या इसलिए कर दी क्योंकि उन तीनों ने बुजुर्गों की मर्जी के खिलाफ अपनी पसंद के लड़कों से शादी करने का फैसला किया था।

महिला सांसदों ने जब 'ऑनर किलिंग' का यह मसला राष्ट्रीय असेंबली में उठाया तो बलूचिस्तान का प्रतिनिधित्व करने वाले एक सांसद इसरारुल्ला जेहरी ने आक्रामक तेवर में कबाइली प्रथा के पक्ष में असेंबली में बयान दिया कि वे सदियों पुरानी इस परंपरा का समर्थन करते हैं। राष्ट्रीय असेंबली के उपाध्यक्ष जान जमाली ने भी इसरारुल्ला जेहरी का साथ दिया था।

इसी तरह पिछले वर्ष जब हजर बिजरानी को शिक्षा मंत्री बनाया गया तो महिला संगठनों ने उन्हें मंत्री पद सौंपे जाने का विरोध किया था क्योंकि उस मंत्री ने पद संभालने से पूर्व एक ऐसी गैरकानूनी कबाइली अदालत की अध्यक्षता की थी जिसमें स्थानीय झगड़े को निपटाने के एवज में दो से पांच वर्ष की पांच छोटी बच्चियां बतौर मुआवजा दी गई थीं। इस्लामिक संगठनों के साथ हुए समझौते के बाद स्वात घाटी की मलाला नाम की एक बच्ची के सिर पर हाथ रख कर वहां के तालिबान समर्थक एक बुजुर्ग ने जियो टीवी के कार्यक्रम के जरिए लड़कियों की तालीम फिर से बहाल करने का आश्वासन दिया है, लेकिन वह कितना सच होगा और उसमें तालीम की तस्वीर कैसी होगी, यह एक अहम सवाल है।

नजरिया | रंजना कुमारी

संस्कृति के नाम पर तालिबानीकरण की कोशिश

गलोर के पब में नैतिकता के नाम पर लड़कियों के साथ जो भी हुआ वह घोर अनैतिक और आपत्तिजनक है। इसकी जितनी भर्त्सना की जाए कम है, लेकिन सवाल यह है कि क्या हम सिर्फ भर्त्सना ही करते रहेंगे? श्रीराम सेना जैसे संगठनों के खिलाफ सख्त कार्रवाई कब की जाएगी और इनमें शामिल लोगों को राजनीतिक सपोर्ट मिलना कब बंद होगा? बीते वर्षों पर नजर डालें तो साफ दिखेगा कि देश में नैतिकता के स्वघोषित पहरुए कुकरमुत्ते की तरह उग आए हैं जो गाहे-बगाहे इस तरह से भभक उठते हैं मानो गंधक के बने हों। लड़कियों के साथ बदसलूकी की इस घटना को मामूली नहीं माना जा सकता। मॉरल पुलिस की भूमिका में आई कुछ लोगों की भीड़ ने जिस तरह से लड़कियों को पीटा, उनके बाल खींचे, कपड़े फाड़े और जमीन पर घसीटा वह महिलाओं के प्रति असहिष्णु और उसी दकियानूसी सोच का नतीजा है जिसके तले महिलाएं सदियों से पिसती रही हैं। भारतीय संस्कृति की बात करने वाले उन गुंडों ने हमारी संस्कृति के मूल तत्व को ही दरकिनार किया है। हमारी संस्कृति में महिलाओं का आदर-सम्मान ही पहली शर्त है। दरअसल संस्कृति के नाम पर समाज का तालिबानीकरण करने की लगातार कोशिशें हो रही हैं और समस्या यह है कि इसे हमारे कुछ राजनीतिक दलों का भी समर्थन है। इन शक्तियों ने इस सच्चाई के प्रति बिल्कुल आंखें मूंद ली हैं कि हमारे लोकतंत्र में आचार-विचार को लेकर सबको स्वतंत्रता मिली हुई है। यहां कई विचारधारा के लोग रहते हैं। एक विचार के लोग दूसरे विचार के लोगों के विरोधी तो हो सकते हैं लेकिन एक-दूसरे के खिलाफ हिंसक आचरण की छूट उन्हें नहीं मिल सकती है। अगर हम ऐसी शक्तियों के खिलाफ पहले की तरह इस बार भी सख्त कार्रवाई करने से चूक गए तो भिन्न-भिन्न रूपों में ये फिर पलटवार करने से नहीं चूकेंगे। कुछ ही दिनों में वेलेंटाइन डे है। श्रीराम सेना जैसे संगठन इसके विरोध में भी हिंसक और आपत्तिजनक तरीके से सड़कों पर उतर सकते हैं।

यहां श्रीराम सेना के इस तर्क को मान भी लिया जाए कि पब में ऐसा कुछ चल रहा था जो कानूनन जायज नहीं था तो इसकी शिकायत पुलिस से की जा सकती थी। देश के कानून में ऐसा कुछ भी नहीं है जो लोगों को नैतिकता-अनैतिकता के आधार पर लोगों को दोषी करार देने और किसी भी रूप में उन्हें दंडित करने का अधिकार देता हो। फिर कानून की बात करें तो शराब पीने को लेकर पुरुष और महिला में कोई विभेद नहीं रखा गया है। जब कोर्ट ने महिलाओं द्वारा शराब परोसने को जायज करार दिया है तो यकीनन पीने को भी। एक पब के लिए महिला-पुरुष दोनों उपभोक्ता है और जब आप पुरुष के शराब पीने पर सवाल नहीं उठाते तो महिलाओं के शराब पीने पर सवाल किस तर्क के सहारे उठा सकते हैं। श्रीराम सेना के लोगों ने कभी शराब पीने के खिलाफ अभियान नहीं चलाया। उनका गुस्सा शराब पर नहीं शराब पीती महिलाओं पर था। वे शराब विरोधी नहीं महिला विरोधी हैं। हालांकि मीडिया में यह खबर भी आई है कि पब मालिक और श्रीराम सेना के लोगों में पहले से ही हफ्तावसूली को लेकर कुछ विवाद था, और इस विवाद की परिणति ही नैतिकता के नाम पर लड़कियों पर हमले के रूप में हुई।

जहां तक शराब की बात है तो इसके प्रति हमारे समाज में शुरू से ढोंग की नीति रही है। मिडिल क्लास में यह भ्रांति रही है कि मर्द ही शराब पी सकते हैं, महिलाएं नहीं। समाज में उपभोक्तावादी संस्कृति का बखान जम कर किया जा रहा है। यह मॉल और पब खुलने को प्रोत्साहित करने की नीति है। शराब उत्पादों की जम कर मार्केटिंग हो रही है। शराब के विज्ञापनों में महिलाओं का प्रयोग बेहद खुले तौर पर किया जाता है। शराब बनाने वाली कंपनियों के मालिक प्रतिष्ठित उद्योगपति हैं। दरअसल व्यवस्था शराब पीने के उकसावे का हर काम कर रही है और फिर रह-रह कर शराबबंदी के खिलाफ अभियान भी चला रही है। दरअसल इस चीज से इंकार नहीं किया जा सकता कि शराब बेहद हानिकारक चीज है और इस पर रोक लग सके तो अच्छा है किंतु वर्तमान नीतियों में ऐसा होना संभव ही नहीं है। कर्नाटक और राजस्थान सरकार अगर पब संस्कृति पर रोक लगाती है तो सिद्धांतन इसमें कुछ भी बुरा नहीं है लेकिन इससे यह संदेश भी जरूर जाता है कि जो गुंडों ने किया वह सही है। फिर सरकार को यह भी बताना चाहिए कि पब संस्कृति को लाने का निर्णय किसने लिया? बाजारीकरण का निर्णय बच्चे-बच्चियों ने नहीं किया, यह देश के राजनीतिज्ञों ने किया है। दरअसल जब से देश के राजनीतिज्ञों में भ्रष्टाचार और अपराधीकरण बढ़ा है उनकी नीतियों में भी जबरदस्त दोहराव आया है। पहले से मौजूद सामाजिक विसंगतियों से मिल कर यह दोहराव और भी घातक हो गया है। अब देखिये आंध्र सरकार ने महिलाओं के विरोध को दरकिनार करते हुए शराबबंदी पर लगी रोक हटा ली।

समाज में जागृति की लाख बात करें लेकिन बहुत ही कम देखने को मिलेगा कि लोगो की भीड़ दहेज, भ्रूण हत्या या बलात्कार जैसी घटनाओं के खिलाफ सड़कों पर उतरी हो। यह हमारी सामाजिक विकृति ही है कि हम महिलाओं को समान अधिकार देना नहीं चाहते

यकीनन समाज काफी बदला है लेकिन स्त्री विरोधी सोच अभी भी जीवित है। फिर नए सामाजिक परिवेश में हमने नैतिकता को सेक्सुएलिटी के काफी करीब खड़ा कर दिया है। तेजी से विकसित होती अर्थव्यवस्था और पॉली कल्चर्ड समाज के रूप में कई किस्म की स्वतंत्रताएं तो मिली हैं लेकिन महिलाओं के लिए दंडात्मक व्यवस्था पहले की तरह ही मौजूद है। एक महिला को सार्वजनिक रूप से प्रताड़ित करने का तंत्र रह-रह का सर उठाता ही रहता है। यहां इस तथ्य पर गौर करना जरूरी है कि महिलाओं के प्रति किए गए गंभीरतम अपराध में कोई कमी नहीं आई है। भ्रूण हत्या से लेकर बलात्कार जैसी घटनाएं कम नहीं रही। समाज में जागृति की बात लाख करें लेकिन बहुत कम ही आपको देखने को मिलेगा कि कुछ लोगों की भीड़ दहेज, भ्रूण हत्या या बलात्कार जैसी घटनाओं के खिलाफ सड़कों पर उतरी हो। यह हमारी सामाजिक विकृति ही है कि हम महिलाओं को समान अधिकार देना नहीं चाहते और पुरुषों से बराबरी की ओर बढ़ते उनके क़दम पर अक्सर स्पीडब्रेकर बन बिछ जाते हैं। देवी-देवताओं और धर्म के नाम पर संगठन बना लेने वाले ढोंगी और अमर्यादित लोग इसमें सबसे आगे हैं। हम जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था में जी रहे हैं वहां ऐसे किसी भी संगठन को नैतिकता का ठेकेदार बनने की इजाजत नहीं मिलनी चाहिए।

(लेखिका सेंटर फॉर सोशल रिसर्च की निदेशक हैं। आलेख बातचीत पर आधारित)

नजरिया | मैत्रेयी पुष्पा

परंपराओं से बंधे जिंदगी के फैसले

दो बहनें इसलिए मारी गईं, क्योंकि इन्होंने प्रेम किया था। अगर प्रेम विपरीत लिंग के साथ होता है, तो हमारे समाज में यह छिपाने की चीज मानी गई है। जरूरी नहीं कि मुहब्बत दो युवक-युवती के बीच में हो, तो ही ऐतराज का विषय है। नहीं, यदि यह दो प्रौढ़ स्त्री-पुरुष के बीच में हो, तो भी बर्दाश्त नहीं किया जाता, क्योंकि हम इसमें सेक्स की गंध सूंघने की आदत डाले हुए हैं। सेक्स, हमारे समाज में अपनी सच्चाई के साथ उजागर होता है, तो वह दंडनीय माना जाता है। यदि सेक्स दबे-छिपे कोनों में रहे, तो उसे माफ करते रहते हैं। हालांकि लोगों को पता रहता है, लेकिन नजरअंदाज करने का विधान बराबर चलता है।

लड़कियों ने प्रेम, जाहिर है कि उसमें सेक्स भी शामिल रहने की संभावना है, पूरे आत्मविश्वास के साथ किया और कहीं तक उन लड़कियों ने इस भावना को अपना अधिकार भी माना। हम कह सकते हैं कि यह उनका साहस नहीं, दुस्साहस था, मगर वे मानती रहीं कि यह जिंदगी का एक स्वाभाविक पहलू है। इतनी कम उम्र में समाज के विधान पूरी तरह समझ में नहीं आते। मन में एक डर जरूर होता है, जो घर के पुरुष अभिभावक बराबर दिखाते रहते हैं और घर की स्त्रियां उस भय का समर्थन करती रहती हैं। इस दिये हुए भय को नई उम्र की लड़कियां कभी व्यवहार में लाती हैं और कभी साहसपूर्ण उत्साह के साथ झटककर झोंक देती हैं।

यदि मैं किशोरावस्था के मन को पढ़कर देखूं, तो बराबर लड़कियों के भीतर एक द्वंद्व चलता है। क्या सही है, क्या गलत है! और, जाहिर है कि दहशतपूर्ण नियम उन्हें कभी सही नहीं लगते। अगर सही लगते होते, तो वे आगे कदम क्यों बढ़ातीं? उन्हें अपनी ही भावना जो प्यार से ओत-प्रोत थी, एक स्वतंत्र दुनिया में बहाये लिए जाती है। जानती होंगी लड़कियां कि अपने इस फैसले की उन्हें संगीन सजा मिलेगी, मगर मुहब्बत इतनी ताकतवर हो गयी कि सजा का ध्यान ही नहीं रहा। उन्हें वे लड़के नहीं खींचे ले जा रहे थे, जो उनके प्रेमी थे। उनका तो अपना ही प्यार था, जो इस सामंती माहौल के बाहर जाना चाहता था। किसी को नहीं मालूम कि उन्होंने इस प्यार के दायरे में इतने सपने संजोये होंगे। अपनी तरह जीने की इतनी उम्मीदें बांधी होंगी और इस घेरेदार समाज में एक नया समाज बनाने की इच्छा की होगी। निश्चित ही लड़कियों को इतनी घुटन हुई होगी कि घर में भय के कारण सांस नहीं आ रही होगी। कैसा अजूबा है यह भी कि लड़कियां दोस्तों से अपनी चिंताएं, सुख, दुख, प्यार बांटती हैं और जिन्होंने उन्हें जन्म दिया है, जिस घर में उन्होंने जन्म लिया है, उन्हीं से सब कुछ छिपाना पड़ता है और उस घर से भागना पड़ता है। क्या कभी हम लोगों ने इस बात पर गौर किया है कि अपने अहंकार, इज्जत और शान-शेखी के कारण हम अपने बच्चों से कितनी दूर होते हैं। यदि ऐसे समय में उनको समझने वाला घर में एक भी सदस्य हो, तो घर की घर में रहेंगी लड़कियां।

जाहिर है, हमें लड़कियों से ज्यादा इज्जत प्यारी है। हमें अपना मान-सम्मान प्यारा है, हमें जातीय घमंड प्यारा है और इस प्यारभरी आबरू का झंडा लड़कियों की पीठ में गड़ा है, नहीं तो क्यों लड़की के प्यार करते ही घर की इज्जत चली जाती है? क्यों उसके अपने फैसले लेते ही बाप-चाचाओं की तौहीन हो जाती है? तब हमें यह देखना चाहिए कि 21वीं शताब्दी में हमने कितनी तरक्की की है? हम कितने आजाद हुए हैं? मैं हमेशा कहती हूं कि स्त्रियों की आजादी न जाने कब आएगी? सारा देश मानता है कि 1947 में हमको स्वतंत्रता मिली थी। क्या स्त्रियां भी मानती हैं यह बात? यदि कुटुम्ब-कबीलों में जा-जाकर देखा जाए, तो मुश्किल से कोई स्त्री कहेगी कि हम आजाद हो गये! आजादी का मतलब क्या है, खासतौर से स्त्रियों की आजादी का? अभी तक पुरुष वर्ग इसे समझा नहीं, क्योंकि घर के दायरे में बंधी स्त्रियां खूटे की गाय सी सम्माननीय है! बहुत प्यारी भी है, मगर घर से बाहर निकलती औरत स्वतंत्र नहीं, उच्छृंखल है। ये दोनों बातें मैं इसलिए कह रही हूं कि गाय को गले में रस्सा बांधकर अगर छूट भी दी जाती है, तो एक खास दायरे तक। उसका रस्सा मालिक के हाथ में रहता है, वह चाहे जब खींची जा सकती है। हमारे समाज में अधिकतर कामकाजी स्त्रियों का हाल यही है। बात यह है कि जो नौकरपेशा हैं, अच्छे पद-पदवी पर हैं, क्षमता-योग्यता में पुरुषों से आगे हैं, जब वे अपना फैसला घर को सोमाओं ने नजरअंदाज करके लेती हैं, तो उच्छृंखल ही कहलाती हैं। लड़कियां पढ़ने वाली थीं, उन्होंने स्कूल देखा था, उन्होंने दोस्तों को देखा था, उन्होंने दोस्तियां की थीं। केवल यही गुनाह था, वरना न उन्होंने किसी से नफरत की, न घृणा की, न किसी की चोरी की, न किसी का माल मारा, न किसी का कत्ल किया। लगता है, सबसे बड़ा जुर्म मुहब्बत ही है। उन्होंने इन युवकों को पसंद किया था, इनका साथ उन्हें अच्छा लगता था, क्यों आगे चल कर उनकी शादी नहीं हो सकती थी?

हमारे रीति-रिवाज इतने क्रूर और खूंखार हैं कि यहां बच्चों की जिंदगी का फैसला उन परंपराओं से बंधा होता है, जो जड़ होकर रूढ़ि हो गयी हैं और रूढ़ियां पूजने को हमारे पूर्वजों ने पवित्र धर्म कहा है। इस वैज्ञानिक युग में युवक-युवतियां इस दलदल से कब, कैसे निकलेंगे और क्या कोई ऐसी वैज्ञानिक विधि बनेगी जो इस रोग का इलाज कर सके?

असल में, हमारे रीति-रिवाज इतने क्रूर और खूंखार हैं कि यहां बच्चों की जिंदगी का फैसला उन परंपराओं से बंधा होता है, जो जड़ होकर रूढ़ि हो गई हैं और रूढ़ियां पूजने को हमारे पूर्वजों ने पवित्र धर्म कहा है। तो इस वैज्ञानिक और तकनीकी युग में युवक-युवतियां इस दलदल से कब निकलेंगी, कैसे निकलेंगी, क्या कोई ऐसी वैज्ञानिक विधि बनेगी, जो इस रोग का इलाज कर सके?

सूरजपुर दिल्ली से सटा अत्याधुनिक युग में जीता हुआ नई से नई कार, मोबाइल फोन, इंटरनेट जैसी सब चीजों से वाकिफ है। वहां के लोग बाजार की गिरावट और उछाल को अच्छी तरह जानते हैं, वे राजनीति में बढ़चढ़कर भाग लेते हैं, वे हर तरह से बदल रहे हैं। उनके बच्चे अत्याधुनिक शिक्षा में जा रहे हैं, मगर वह नजरिया नहीं बदल रहा, जिसे वे अपनी इज्जत कहकर लागू करते रहते हैं और यह इज्जत हर तरह से स्त्रियों/लड़कियों पर टूटती है। पिंकी और सोनम किशोरावस्था के स्वाभाविक आकर्षण वश उन युवकों से बंध गयीं, जिनकी हर चाल-ढाल उन्हें अच्छी लगती होगी।

हर मां-बाप जानते हैं, याद करें तो याद कर सकते हैं। इस कच्ची-किशोर उम्र से गुजरते हुए क्या ऐसे आकर्षण उन्हें नहीं हुए थे? यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। जो कहते हैं कि हमें नहीं हुए, वे झूठ बोलते हैं। इसमें पढ़ाई-लिखाई और योग्यता से कोई अंतर नहीं पड़ता, ऐसे आकर्षण और प्रेम लगभग सभी को होते हैं। अब ये अलग बात है कि कोई डर जाता है और कोई डर नहीं मानता। वैसे डरने वालों का प्यार तो यूं ही मर जाता है। उनके पास बचती है कुंठा। कुंठित जीवन किसी को क्या दे सकता है?

यही कारण है कि वह अपने बच्चे के प्रति भी न्याय नहीं कर पाता और इसी अन्याय के चलते यह अत्याचार हुआ है कि कुंठित लोगों ने दो मासूम बच्चियों को मारा डाला।

(लेखिका वरिष्ठ साहित्यकार हैं। आलेख बातचीत पर आधारित)

नए रूपों में उभरती असहिष्णुता

भारत अपने सामंती अतीत और वर्तमान के साथ अब उपभोक्तावाद और मौजूदा मुक्त बाजार वाले पूंजीवाद से जन्मी जीवन शैली के साथ तालमेल नहीं बिठा पा रहा है।

■ नीलोत्पल बसु

दृष्टिकोण संदर्भ : संस्कृति

हमारे देश के इतिहास में 30 जनवरी का खास महत्व है। यह समन्वयकारी और असहिष्णु ताकतों के बीच खूनी टकराव के रूप में दर्ज है। हिंसा के पैमाने के आधार पर देखा जाए तो ऐसी और भी घटनाएं हैं, लेकिन 60 वर्ष पहले एक हत्यारे की गोलियों से छलनी होकर राष्ट्रपिता का धराशायी होना एक ऐसा संकेत था, जो हमारे राष्ट्र के जीवन को लंबे समय तक सताता रहेगा। यह असहिष्णु ताकतों के दुराग्रहपूर्ण कृत्य ही हैं, जो लगातार हमारे सामाजिक व राष्ट्रीय परिवेश को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं।

आज निस्संदेह असहिष्णुता की प्रकृति और आयाम कहीं अधिक जटिल हो चुका है। इसकी मात्रा में भी इजाफा हुआ है। मुश्किल यह है कि इससे लड़ने की खातिर इसे चुनौती के रूप में लेने के प्रति कोई एक राय नहीं है।

जब मंगलौर के एक पब में युवतियों पर बेशर्म तरीके से हमला किया गया तो यह बात बिलकुल साफ हो गई। चौबीस घंटे चलने वाले खबरिया चैनलों के इस दौर में सोचने लायक कुछ बचा ही नहीं। हमला करते, युवा महिलाओं के साथ अभद्रता करते उत्पातियों की तस्वीरें स्पष्ट रूप से हमारे ड्राइंग रूम तक पहुंच गईं। दिन-रात एक सुपर पॉवर के रूप में उभरती हुई अपनी छवि का गौरव गान करने और अंतरिक्ष में चंद्रयान भेजने वाले इस आधुनिक राष्ट्र में टीवी की उन छवियों पर चहुंओर गुस्सा भड़कना चाहिए था। लेकिन अफसोसनाक ढंग से ऐसा नहीं हुआ।

यहां पहले ही कुछ राजनेता ऐसे मूल्यों की रक्षा में खुले तौर पर आगे आ गए, जिनकी वजह से तथाकथित तौर पर उपद्रव भड़का। इन राजनेताओं में कर्नाटक के मुख्यमंत्री येदुरप्पा सबसे आगे थे। सावधानीपूर्वक तैयार किए अपने हिंदुत्व के जनाधार को कायम रखने की मजबूरी और अपनी संवैधानिक जिम्मेदारी के अनुरूप

कार्रवाई करने को लेकर येदुरप्पा घटना के बाद 48 घंटों तक असमंजस की स्थिति में रहे। इसके बाद 'पब संस्कृति' के खिलाफ उनका बयान आया और यह उनकी पहली टिप्पणी थी, जिसमें उन लोगों के प्रति नरम रुख साफ झलक रहा था जिन्होंने कानून को अपने हाथ में लिया था।

वास्तव में भारत अतुल्य है। अन्यथा कोई सांस्कृतिक टकरावों पर इस तरह की सफाई कैसे दे सकता है। जो टकराव इतने हिंसक तरीके से खुद को अभिव्यक्त कर रहा है और जो इतना असहिष्णु है। भारत अपने सामंती अतीत और जारी वर्तमान के साथ अब उपभोक्तावाद और मौजूदा जीवन शैली के साथ तालमेल नहीं बिठा पा रहा है। यह जीवन शैली, जो मुक्त बाजार वाले पूंजीवाद से जन्मी है।

हमारी सामंती मानसिकता हमें अपनी महिलाओं - हमारी बहनों, हमारी मांओं - से इस तरह बर्ताव करने को उकसाती है, जो उन्हें हमारे घरों और उसकी चहारदीवारी के बाहर भी पुरुषों के समान मानने से इनकार करती है। इतिहास में आजादी की जिस प्रक्रिया की शुरुआत पूंजीवाद से हुई, उस पूंजीवाद ने दुनिया के अन्य हिस्सों की तरह भारत में भी प्रत्यक्ष तौर पर जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने की महिलाओं की आकांक्षा को बल दिया।

यदि 'पब संस्कृति' वास्तव में इतनी खतरनाक है तो सिर्फ महिलाओं पर हमला क्यों? और उन लोगों के उद्देश्यों का महिमामंडन करते हुए उनके कृत्यों का बचाव करना क्या उचित है, जिन्होंने मंगलौर में उस दिन पब में इतना उत्पात मचाया? वास्तव में तथ्य खुद इस बात को बखान करते हैं। इसलिए भाजपा के राष्ट्रीय नेतृत्व द्वारा विरोध जताने के बावजूद येदुरप्पा और कर्नाटक सरकार की प्रतिक्रिया और 'पब' के उत्पातियों के खिलाफ विरोध के तौर पर अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद जैसे संगठनों के तमाम हिंसक प्रदर्शनों के बावजूद साफ पता चलता है कि हिंदुत्व ब्रिगेड कहां खड़ी है।

आज भी लोगों की सोच में पूरी तरह बदलाव नहीं आया है। बदलाव के साथ तालमेल बिठाने को लेकर मूल रूप से लोगों की सोच क्या है, यह राजस्थान के नए मुख्यमंत्री के उस वक्तव्य से जाहिर होता है, जिसमें उन्होंने शॉपिंग मॉल्स में लड़के-लड़कियों के हाथ में हाथ डालकर घूमने पर आपत्ति जताई थी।

यह सच है कि प्रतीकों को लेकर समस्याएं हैं। वैश्वीकरण नव-उदारवाद पर जोर देने के साथ ऐसी प्रक्रिया को हवा देता है जिसमें असमानता की खाई चौड़ी हो रही है और व्यापक तौर पर बेरोजगारी (खासकर निचले तबके में) बढ़ रही है। इसकी वजह से कई बार लोगों की हताशा और गुस्से की अभिव्यक्ति हिंसक रूप में होती है। दुर्भाग्य से आज जो लोग हिंसा और असहिष्णुता को नजरअंदाज कर रहे हैं, वे भी उस नव-उदारवादी वैश्वीकरण की प्रक्रिया के कट्टर अनुयायी नजर आते हैं। यह संभवतः आश्चर्यजनक ही नहीं, बल्कि हमारे समय की सबसे बड़ी विडंबना भी है।

मंगलौर में जो हुआ या शिवसेना अथवा महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना या बजरंग दल के उत्पाती तत्वों द्वारा जो किया जा रहा है और उन्होंने जो रास्ता अख्तियार किया है, उसे अक्सर तालिबानियों के कृत्यों से जोड़कर देखा जाता है। इस बात का पूरा प्रयास किया जा रहा है कि दुनिया तालिबान की उत्पत्ति को भूल जाए। ऐसा देश जिसके लिए स्टेच्यू ऑफ लिबर्टी उसी तालिबान के अभ्युदय का स्थायी प्रतीक है, जिन्हें 'पापी सोवियत साम्राज्य' के खिलाफ खड़ा किया गया था। इतिहास क्रूर है और इसीलिए तालिबान आज इस शक्तिशाली साम्राज्य को सता रहा है।

भारत में गहरे तक पैठी लोकतांत्रिक व्यवस्था और लोकतांत्रिक संस्थानों के बावजूद आज जो कुछ हो रहा है, वह असहिष्णुता दक्षिण एशिया के हमारे पड़ोसी देशों में कहीं ज्यादा घातक ढंग से सामने आ रही है। असहिष्णुता किसी भी तरह के न्यायपूर्ण संघर्ष का रूप नहीं हो सकती। लोगों को उन कारणों का विश्लेषण करना होगा, जिनकी वजह से इस उदारवादी दौर में भी स्त्री व पुरुषों, लड़के व लड़कियों के हाथ में हाथ डालकर चलने पर इतना विवाद हो जाता है।

-लेखक माकपा की केंद्रीय समिति के सदस्य हैं।

मुद्दा अंजलि सिन्हा

महिला सुरक्षा क्यों उपेक्षित मसला

हाल ही में सरकारी महकमों से दो तरह की रिपोर्टें एक ही दिन की खबरों में आयी हैं। एक गृह मंत्रालय की तरफ से है तो दूसरी राष्ट्रीय महिला आयोग की तरफ से है। गृह मंत्रालय ने अलग-अलग राज्यों में महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों का ब्यौरा दिया है तो राष्ट्रीय महिला आयोग ने अलग-अलग राज्यों में महिलाओं के खिलाफ पुलिस द्वारा की जाने वाले छेड़खानी तथा यौन हिंसा का ब्यौरा दिया है। केन्द्रीय गृह मंत्रालय द्वारा 2007 में दर्ज मामलों के आधार पर बताया गया है कि भारत में प्रतिदिन बलात्कार के 57 तथा छेड़छाड़ के 106 मामले दर्ज हो रहे हैं। यानी हर 25 मिनट पर एक बलात्कार और हर 14 मिनट पर छेड़छाड़ की एक घटना दर्ज होती है। इसके अलावा हर रोज 56 मामले महिलाओं के अपहरण के (26 मिनट में एक) और प्रतिदिन 22 दहेज हत्या (1 घण्टा 5 मिनट में एक) तथा ससुराल पक्ष द्वारा उत्पीड़न के 208 मामले प्रतिदिन दर्ज होते हैं। ये ब्यौरे राज्यवार भी उपलब्ध हैं।

राष्ट्रीय महिला आयोग ने पिछले तीन वर्षों यानी 2006-2007 और 2008 के वे आंकड़े राज्यवार पेश किए हैं जिसमें छेड़खानी करनेवाले खुद पुलिसवाले हैं। सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि किसी भी थाने में किसी पुलिस के खिलाफ शिकायत आसानी से दर्ज नहीं होती होगी तथा शिकायत वापस लेने के लिए पीड़ित पर कई तरह से दबाव भी पड़ता होगा। इसके बावजूद इसी साल जबकि अभी यह साल खत्म नहीं हुआ है, दिल्ली में पुलिस के खिलाफ छेड़खानी के 57 मामले, उत्तर प्रदेश में 264, उत्तराखण्ड में 8, बिहार में 15, राजस्थान में 30 तथा हरियाणा में 25 मामले दर्ज हो चुके हैं। इन सबके खिलाफ कार्रवाई की क्या स्थिति है यह जानकारी नहीं मिली है।

ये दोनों आंकड़े स्थिति की गम्भीरता का बयान स्वयं कर रहे हैं क्योंकि हमारे समाज में लोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि अपराध जितनी बड़ी संख्या में होते हैं, उतने दर्ज नहीं होते हैं। न तो दर्ज करने की प्रक्रिया आसान है, न ही दूरदराज तक जितने थानों की जरूरत है वे मौजूद हैं और न ही लोग कानूनी पचड़ों में जाना चाहते हैं। थाना और खाकी वर्दी अधिकतर को आतंकित ही करती है। पुलिस का व्यवहार इस आतंक का कारण और सच्चाई है। वह जिसे चाहे बिना कारण फंसा कर तंग करने की हैसियत रखती है तो किसी को अपने प्रभाव से 'मुक्त' भी कर सकती है। इन सबसे पार पाते हुए हमारे जनतांत्रिक ढांचे में वास्तविक मामलों की तुलना में कम ही अनुपात में सही लेकिन मामले दर्ज भी करने पड़ते हैं।

दरअसल हमारे देश में महिलाओं की सुरक्षा का मामला अभी तक उनके अधिकार के तौर पर नहीं स्थापित हो सका है। यह एक नैतिक बुराई के रूप में लिया जाता है। इसलिए समाज यह सोचता है कि कुछ लोग कितने बुरे और अनैतिक हैं कि बेचारी महिलाओं को तंग करते हैं या उनकी इज्जत लूट लेते हैं। यदि हम भाषा पर गौर करें तो खबरों में यौन हिंसा या बलात्कार की जगह दुष्कर्म का प्रयोग होता है जो अपराध का भाव कम कर देता है बल्कि सद्कर्म की अपेक्षा करता है दुष्कर्मी से। इसी तरह छेड़छाड़ को गम्भीर यौन अपराध का दर्जा प्राप्त नहीं है यानी दूसरे व्यक्ति की इच्छा के खिलाफ यौनिक व्यवहार यौनिक हिंसा नहीं कहा जाता, न हर तरह की हिंसा को अपराध की श्रेणी में शुमार किया जाता है। यदि सुरक्षित होना उनका हक मान लिया गया होता तो सरकार प्रशासन और पूरे समाज को यह जिम्मेदारी आवश्यक रूप से उठानी पड़ती तथा बचाव के निश्चित कदम पहले से तय करने पड़ते कि कैसे अधिकारों का हनन रोका जाए। कोई भी मालिक (एम्लॉयर) इस जिम्मेदारी से कैसे बच निकलता? खुद सरकारी विभाग भी आज के जमाने में कैसे असुरक्षित कार्यस्थल में शुमार किए जाते ?

यही नहीं, पत्रकार सौम्या की हत्या के बाद रात की शिफ्ट में नौकरी करनेवाली महिलाओं की सुरक्षा का मसला फिर एक बार चर्चा में आया है। हाल ही में राष्ट्रीय महिला आयोग ने देशभर की सभी बड़ी कम्पनियों को निर्देश जारी किये हैं कि वे अपने यहां रात की शिफ्ट में काम करनेवाली सभी महिलाओं को सुरक्षित घर पहुंचाने की जिम्मेदारी सुनिश्चित करें यानी पिकअप और पिकड्रॉप की सुविधा की बात कही गयी है। यह सुझाव बी.पी.ओ., एयरलाइन्स, मेडिकल तथा मनोरंजन क्षेत्र से जुड़ी कम्पनियों को दिए गए हैं।

यह स्थिति तो तब सामने है जब हर क्षेत्र में महिलाओं ने यह साबित किया है कि यदि सुरक्षा का प्रश्न बाधा न खड़ा करे तो वे हर जिम्मेदारी को निभाने में सक्षम हैं।

समाज अलका आर्य

तेजाबी हमलों से कैसे मिले निजात

हाल ही में सरकारी महकमों से दो तरह की रिपोर्टें एक ही दिन की खबरों में आयी हैं। एक गृह मंत्रालय की तरफ से है तो दूसरी राष्ट्रीय महिला आयोग की तरफ से है। गृह मंत्रालय ने अलग-अलग राज्यों में महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों का ब्यौरा दिया है तो राष्ट्रीय महिला आयोग ने अलग-अलग राज्यों में महिलाओं के खिलाफ पुलिस द्वारा की जाने वाले छेड़खानी तथा यौन हिंसा का ब्यौरा दिया है। केन्द्रीय गृह मंत्रालय द्वारा 2007 में दर्ज मामलों के आधार पर बताया गया है कि भारत में प्रतिदिन बलात्कार के 57 तथा छेड़छाड़ के 106 मामले दर्ज हो रहे हैं। यानी हर 25 मिनट पर एक बलात्कार और हर 14 मिनट पर छेड़छाड़ की एक घटना दर्ज होती है। इसके अलावा हर रोज 56 मामले महिलाओं के अपहरण के (26 मिनट में एक) और प्रतिदिन 22 दहेज हत्या (1 घण्टा 5 मिनट में एक) तथा ससुराल पक्ष द्वारा उत्पीड़न के 208 मामले प्रतिदिन दर्ज होते हैं। ये ब्यौरे राज्यवार भी उपलब्ध हैं।

राष्ट्रीय महिला आयोग ने पिछले तीन वर्षों यानी 2006-2007 और 2008 के वे आंकड़े राज्यवार पेश किए हैं जिसमें छेड़खानी करनेवाले खुद पुलिसवाले हैं। सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि किसी भी थाने में किसी पुलिस के खिलाफ शिकायत आसानी से दर्ज नहीं होती होगी तथा शिकायत वापस लेने के लिए पीड़ित पर कई तरह से दबाव भी पड़ता होगा। इसके बावजूद इसी साल जबकि अभी यह साल खत्म नहीं हुआ है, दिल्ली में पुलिस के खिलाफ छेड़खानी के 57 मामले, उत्तर प्रदेश में 264, उत्तराखण्ड में 8, बिहार में 15, राजस्थान में 30 तथा हरियाणा में 25 मामले दर्ज हो चुके हैं। इन सबके खिलाफ कार्रवाई की क्या स्थिति है यह जानकारी नहीं मिली है।

ये दोनों आंकड़े स्थिति की गम्भीरता का बयान स्वयं कर रहे हैं क्योंकि हमारे समाज में लोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि अपराध जितनी बड़ी संख्या में होते हैं, उतने दर्ज नहीं होते हैं। न तो दर्ज करने की प्रक्रिया आसान है, न ही दूरदराज तक जितने थानों की जरूरत है वे मौजूद हैं और न ही लोग कानूनी पचड़ों में जाना चाहते हैं। थाना और खाकी वर्दी अधिकतर को आतंकित ही करती है। पुलिस का व्यवहार इस आतंक का कारण और सच्चाई है। वह जिसे चाहे बिना कारण फंसा कर तंग करने की हैसियत रखती है तो किसी को अपने प्रभाव से 'मुक्त' भी कर सकती है। इन सबसे पार पाते हुए हमारे जनतांत्रिक ढांचे में वास्तविक मामलों की तुलना में कम ही अनुपात में सही लेकिन मामले दर्ज भी करने पड़ते हैं।

दरअसल हमारे देश में महिलाओं की सुरक्षा का मामला अभी तक उनके अधिकार के तौर पर नहीं स्थापित हो सका है। यह एक नैतिक बुराई के रूप में लिया जाता है। इसलिए समाज यह सोचता है कि कुछ लोग कितने बुरे और अनैतिक हैं कि बेचारी महिलाओं को तंग करते हैं या उनकी इज्जत लूट लेते हैं। यदि हम भाषा पर गौर करें तो खबरों में यौन हिंसा या बलात्कार की जगह दुष्कर्म का प्रयोग होता है जो अपराध का भाव कम कर देता है बल्कि सद्कर्म की अपेक्षा करता है दुष्कर्मी से। इसी तरह छेड़छाड़ को गम्भीर यौन अपराध का दर्जा प्राप्त नहीं है यानी दूसरे व्यक्ति की इच्छा के खिलाफ यौनिक व्यवहार यौनिक हिंसा नहीं कहा जाता, न हर तरह की हिंसा को अपराध की श्रेणी में शुमार किया जाता है। यदि सुरक्षित होना उनका हक मान लिया गया होता तो सरकार प्रशासन और पूरे समाज को यह जिम्मेदारी आवश्यक रूप से उठानी पड़ती तथा बचाव के निश्चित कदम पहले से तय करने पड़ते कि कैसे अधिकारों का हनन रोका जाए। कोई भी मालिक (एम्लॉयर) इस जिम्मेदारी से कैसे बच निकलता? खुद सरकारी विभाग भी आज के जमाने में कैसे असुरक्षित कार्यस्थल में शुमार किए जाते ?

यही नहीं, पत्रकार सौम्या की हत्या के बाद रात की शिफ्ट में नौकरी करनेवाली महिलाओं की सुरक्षा का मसला फिर एक बार चर्चा में आया है। हाल ही में राष्ट्रीय महिला आयोग ने देशभर की सभी बड़ी कम्पनियों को निर्देश जारी किये हैं कि वे अपने यहां रात की शिफ्ट में काम करनेवाली सभी महिलाओं को सुरक्षित घर पहुंचाने की जिम्मेदारी सुनिश्चित करें यानी पिकअप और पिकड्रॉप की सुविधा की बात कही गयी है। यह सुझाव बी.पी.ओ., एयरलाइन्स, मेडिकल तथा मनोरंजन क्षेत्र से जुड़ी कम्पनियों को दिए गए हैं।

यह स्थिति तो तब सामने है जब हर क्षेत्र में महिलाओं ने यह साबित किया है कि यदि सुरक्षा का प्रश्न बाधा न खड़ा करे तो वे हर जिम्मेदारी को निभाने में सक्षम हैं।

गांवों की तसवीर बदल सकती है बशर्ते...

नरेगा ने ग्रामीण इलाकों से मजदूरों के पलायन को बहुत हद तक रोक दिया है

विकास

अरुण आदित्य

पिछले आम चुनाव के दौरान जब राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के नेता इंडिया शाइनिंग के नारे पर खेल रहे थे, सोनिया गांधी अपने रोड शो में आए पिचके गालों और धंसी आंखों वाले चेहरों से पूछतीं, क्या देश चमक रहा है? जवाब उन्हें पहले से पता होता था। चमचमाते राजमार्गों को देखकर एनडीए मान बैठा था कि इंडिया चमक रहा है। वैसे उसका अनुमान गलत भी नहीं था। 'इंडिया' तो वास्तव में चमक ही रहा था, लेकिन 'भारत-उदय' नहीं हो पाया था। 'इंडिया' के लिए चमचमाती सड़कें बन गई थीं, लेकिन 'भारत' तक जाने वाली पगडंडियां वैसी ही ऊबड़-खाबड़ थीं। 'इंडिया' के घरों में कंप्यूटरों पर प्रगति के आंकड़े थे और 'भारत' के झोपड़ों में चूल्हे मुट्ठी भर आटे-चावल के इंतजार में ठंडे हो रहे थे। विकास के काम तो हो रहे थे, लेकिन जरूरतमंद को काम नहीं मिल रहा था। सोनिया गांधी इस बात को समझ गई थीं। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना यानी नरेगा के बीज संभवतः उसी समय पड़े होंगे। पर सोनिया चाहकर भी ऐसी योजना लागू न कर पातीं, अगर मनमोहन सिंह जैसे अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री न होते।

आंकड़ों को अगर पैमाना मानें, तो इस योजना की उपलब्धियां चौंकाती हैं। आंकड़े कहते हैं कि इस योजना के तहत देश भर में अब तक 3.53 करोड़ परिवारों को काम मिल चुका है। इसमें भी समाज के निचले स्तर पर रहने वालों को विशेष लाभ मिला है। आंकड़ों के मुताबिक, 43.20 करोड़ श्रम-दिवस का कार्य अनुसूचित जाति और 33.79 करोड़ श्रम-दिवस का कार्य अनुसूचित जनजाति के लोगों को मिला है। सर्वाधिक फायदा महिलाओं को हुआ है, जिन्हें कुल श्रम-दिवसों का 48.86 प्रतिशत हिस्सा मिला है। सरकार इन आंकड़ों को लेकर इतरा सकती है, लेकिन विरोधी दलों को इन पर संदेह है। सीएजी ने भी आंकड़ों पर सवाल उठाया है और इसकी वाजिब वजह भी है। पंचायत और ब्लॉक स्तर पर अभिलेखों का रखरखाव इतना खराब है कि आंकड़ों का सत्यापन टेढ़ी खीर है। देश के प्रधान न्यायाधीश के जी बालाकृष्णन तक मान चुके हैं कि यह एक कल्याणकारी योजना है, लेकिन पारदर्शिता की कमी, भ्रष्टाचार और ठेकेदारों व सरकारी अधिकारियों के बीच साठ-गांठ इसकी राह में सबसे बड़ी बाधा हैं।

कई और शिकायतें हैं। मसलन जॉब कार्ड बन जाने के बावजूद कई लोगों को काम नहीं मिलता। बेरोजगारी भत्ता पाने की प्रक्रिया बहुत जटिल है। पंचायतों के मुखिया काम देने में भेदभाव करते हैं। गलत मस्टर रोल भरे जाते हैं। जो काम हो रहे हैं, उनकी गुणवत्ता संदिग्ध है। निश्चित ही ये सब हो रहा है, लेकिन इसके साथ ही काम भी हो रहा है। और सबसे बड़ी बात यह कि इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार-आश्वस्ति का एक भाव पैदा हुआ है। इसके चलते निजी क्षेत्र में भी मजदूरी की दर पर असर पड़ रहा है। मध्य प्रदेश के झाबुआ जिले में पलायन की दर 75 फीसदी से घटकर 20 फीसदी पर आ गई है। बिहार-यूपी से पंजाब आने वाले मजदूरों की संख्या भी घटी है। पलायन की दर और कम करने के लिए मजदूरी की दरों में संशोधन करना होगा। मसलन इस योजना में अभी उत्तर प्रदेश में एक दिन की मजदूरी सौ रुपये है, जबकि गाजियाबाद में साइकिल रिक्शा चलाने वाला एक आदमी दो-ढाई सौ रुपये तक कमा लेता है। ऐसी विसंगतियों के दूर होने से 'भारत-उदय' ही नहीं, 'इंडिया शाइनिंग' भी हो जाएगा। शाइनिंग इंडिया को सबसे ज्यादा शिकायत शहरों में बढ़ती झुग्गी-झोपड़ियों से होती है। गांवों से पलायन रुकेगा, तो झुग्गियों की तादाद भी घटेगी। इस तरह गांव और शहर, दोनों की तसवीर बदलेगी।

कई सरकारी कार्यक्रमों में देश का मुस्तकबिल बदलने का माद्दा है, लेकिन मूल समस्या उनके ईमानदारी से लागू करने की ही है

केंद्र-राज्य के बीच फंसी तमाम योजनाओं की तरह ही नरेगा की राह में राजनीतिक भेदभाव भी एक बाधा है। उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती का आरोप है कि केंद्र ने नरेगा के तहत 1,300 करोड़ रुपये की राशि अभी तक जारी नहीं की है, जबकि वित्त-वर्ष समाप्त होने वाला है। उधर केंद्र के आंकड़े कहते हैं कि उत्तर प्रदेश में अब तक 32.92 लाख लोगों को रोजगार मिला है। प्रदेश में एक लाख 90 हजार 290 कार्य शुरू किए गए, जिनमें से 85 हजार 608 कार्य पूर्ण हो चुके हैं। इन आंकड़ों पर केंद्र को इतराने का हक है, लेकिन उसे मायावती के इस सवाल का जवाब भी देना होगा कि राशि आबंटन के मामले में भेदभाव क्यों हो रहा है।

तमाम वाजिब शिकायतों के बावजूद नरेगा के महत्व को इस बात से भी समझा जा सकता है कि चुनाव आयोग से राजनीतिक दलों की मुलाकात के दौरान माकपा नेता सीताराम येचुरी ने आग्रह किया कि चुनाव प्रक्रिया के दौरान इस योजना को स्थगित न किया जाए। योजना का बिरवा अभी थोड़े समय पूर्व ही रोपा गया है, इसकी हरियाली दिखने लगी है, पर्यावरण पर इसका सकारात्मक असर भी दिख रहा है, लेकिन असली फल पाने के लिए थोड़ा इंतजार भी करना होगा। बांदा के एक गांव से रिपोर्ट आई कि इस योजना के तहत बने तालाब में एक भी बूंद पानी नहीं है। आरोप लगाने वाले यह भूल गए कि सितंबर में कंप्लीट हुए तालाब में पानी कहां से आएगा, जबकि इस बीच बारिश ही नहीं हुई। अगली बारिश तक इंतजार तो करो। लेकिन इंतजार का समय किसके पास है, लोकसभा चुनाव तो बारिश से पहले ही है, लिहाजा इसे तत्काल पास या फेल बताने वालों को अतिशयोक्तियों में जाना ही होगा।

आरोप-प्रत्यारोप से परे अगर तार्किक विश्लेषण करें, तो निश्चित ही यह एक क्रांतिकारी योजना है। इसके महत्व को मानने से वही कतराएंगे, जिन्हें भारत-उदय से डर लगता है। एक पंचायत प्रधान की व्यथा है कि सबको सरकारी काम मिलने लगेगा, तो हमारे खेतों में काम कौन करेगा। एक और प्रधान ने इसका भी तोड़ निकाल लिया, पैसे नरेगा के मद से दिए जा रहे हैं और काम प्रधान जी के खेत में हो रहा है। सवाल एक या दो ग्राम-प्रधान का नहीं है, उस सामंती मानसिकता का है, जिसमें श्रम के शोषण को सहज अधिकार माना जाता है। केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री रघुवंश प्रसाद सिंह के भाई के खेत में गरीब बच्चे हल में बैल की तरह जोते जा रहे थे। हंगामा हुआ, तो उन्हें इसमें असामान्य कुछ नहीं लगा। गरीब अभी तक इसे अपनी नियति मानता रहा है, क्योंकि वह भूखा था। पेट में अन्न जाएगा, तो मन में विचार भी आएंगे कि उनकी नीयत और हमारी नियति ऐसी क्यों है? इन विचारों से ही समाज बदलेगा। गांवों के दिल पर कान लगाकर सुनिए, इसकी आहट सुनाई दे रही है।

(लेखक अमर उजाला से जुड़े हैं)

ग्रामीण रोज़गार गारंटी स्कीम को सफ़ल बनायें
गरीब मज़दूर परिवारों को 100 दिन काम दिलायें

कैसे कामयाब हो रोजगार गारंटी योजना

मुद्दा

भारत डोगरा

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून बनाना और इस तरह हमारे गांवों में रोजगार के अधिकार को स्थापित करना यूपीए सरकार की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी गई है। इस कानून के अन्तर्गत बनी ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना मूलतः अच्छी योजना है। यदि इस अधिनियम का क्रियान्वयन सही ढंग से हो और जो कानून में कहा गया है, वह ठीक-ठीक जमीनी स्तर पर दिखे, तो गरीबी दूर करने में इस योजना की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। पर्यावरण संरक्षण के कार्य व टिकाऊ विकास की बुनियाद तैयार करने वाले बहुत से कार्य इसके अन्तर्गत हो सकते हैं। अंतिम लक्ष्य तो यही है कि गांवों के टिकाऊ व आत्म-निर्भर विकास की बुनियाद तैयार हो तथा इस योजना का उपयोग इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए। टिकाऊ विकास के लिए, जल व मिट्टी संरक्षण तथा हरियाली बढ़ाने के कार्यों को करने के लिए अब इस योजना के कारण पहले से कहीं अधिक बजट उपलब्ध हो सकता है, यह बड़ी उपलब्धि होगी।

पर, इन तमाम संभावनाओं का अपेक्षाकृत अच्छा उपयोग अभी देश के कमोबेश छोटे क्षेत्र में ही हो पा रहा है। देश के बड़े क्षेत्र में अभी उम्मीद के अनुकूल परिणाम रोजगार के अधिकार के इस कानून से नहीं मिल सके हैं, जिसे 'नरेगा' कहा जा रहा है। सवाल है कि जहां बेहतर परिणाम मिले हैं, वहां की स्थितियां कैसी थीं ताकि इन स्थितियों को बड़े पैमाने पर उत्पन्न कर पूरे देश में इस योजना को सफल बनाया जा सके।

'नरेगा' की सफलता के लिए बहुत महत्वपूर्ण शर्त यह है कि गांववासियों के व विशेषकर उनके कमजोर व जरूरतमंद वर्ग के संगठन मजबूत होने चाहिए। यदि ये संगठन मजबूत होंगे, तो जॉब कार्ड बनवाने, विधिसम्मत ढंग से रोजगार मांगने, रोजगार स्थल पर उचित मजदूरी व अन्य सुविधाएं सुनिश्चित करने व रोजगार न मिलने पर बेरोजगारी भत्ता प्राप्त करने जैसे सभी कार्य ठीक से हो सकेंगे। दूसरी ओर, संगठन न होने पर अकेले कोई संवेदनहीन हो चली व्यवस्था में रोजगार की मांग के लिए देर तक संघर्ष नहीं कर सकता।

दूसरी मुख्य बात यह है कि गांव व पंचायत की योजना बनाने का कार्य संतोषजनक ढंग से होना चाहिए। यदि पंचायत स्तर की अच्छी योजनाएं बनी हैं, तो आसानी से चुनाव हो सकता है कि किस कार्य को प्राथमिकता के आधार पर पहले करना है। अच्छी योजना बनाने का अभिप्राय यह है कि सभी लोगों की भागीदारी हो, महिलाओं व कमजोर आर्थिक-सामाजिक वर्ग विशेषकर दलित समुदायों पर विशेष ध्यान दिया जाए, टिकाऊ विकास व पर्यावरण संरक्षण की जरूरतों को भली-भांति समझकर कार्य किया जाए।

इस योजना की तीसरी अहम शर्त है कि भ्रष्टाचार रोकने के लिए असरदार कदम उठाए जाएं। हालांकि 'नरेगा' में पारदर्शिता व जनता की जांच-निगरानी के महत्वपूर्ण प्रावधान हैं, पर जब ग्रामीण विकास कार्यों में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो, तो इन प्रावधानों की उपेक्षा होने लगती है। अतः भ्रष्टाचार करने वालों के विरुद्ध असरदार कार्यवाही करना व उन्हें न्यायोचित सजा दिलाना जरूरी है, ताकि भ्रष्टाचार पर अंकुश लग सके।

जब रोजगार गारंटी की बात की जाती है, तो 'गारंटी' पक्ष के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि रोजगार की व्यवस्था न होने पर बेरोजगारी भत्ता दिया जाए। 'नरेगा' में बेरोजगारी भत्ते की व्यवस्था है, पर इस बारे में कानून उतना मजबूत नहीं है, जितना होना चाहिए व क्रियान्वयन तो और भी कमजोर है। अतः बेरोजगारी भत्ते के मामले में कानून और क्रियान्वयन- दोनों को मजबूत किया जाए।

आंकड़ों के अनुसार, योजना पर अभी तक जो खर्च हुआ है, वह जरूरतमंदों को एक सौ दिन का रोजगार दिलाने के लिए काफी कम है। **वर्ष 2006-07 में 'नरेगा' पर 8,823 करोड़ रुपए खर्च हुए, 2007-08** में 15,857 करोड़ रुपए व 2008-09 में 17,076 करोड़ रुपए खर्च हुए। औसतन एक जिले पर 30 करोड़ रुपए का खर्च अभी बहुत कम है। जब यह ध्यान में रखें कि इसका महत्वपूर्ण हिस्सा भ्रष्टाचार में चल गया, तो यह उपलब्धि और भी कम हो जाती है। जब जमीनी स्तर पर जरूरतमंद लोग यह महसूस करते हैं कि उन्हें सौ दिन की अपेक्षा तीस-चालीस दिन ही काम मिला, पूरी मजदूरी नहीं मिल रही है या देर से मिल रही है, तो उन्हें बहुत निराशा होती है। इसके साथ पुरानी रोजगार योजनाएं रोकी गई व कई सूखा प्रभावित क्षेत्रों में अलग से राहत कार्य शुरू नहीं किए गए, जिससे जरूरतमंदों को मिलने वाली राहत कम हो गई। पहले खाद्य के बदले कार्य व सूखा राहत कार्यों से अनाज जरूरतमंद लोग तक नहीं पहुंचता था, वह अब नजर नहीं आ रहा है। इतना तो तय है कि 'नरेगा' के लक्ष्य हासिल करने के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है।

भेदभाव का रोजगार

अलका आर्य

मुद्दा

इन दिनों अखबारों में छप रहे केंद्र सरकार के राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना संबंधी विज्ञापन में एक मुस्कराते हुए पुरुष के हाथ में जॉब कार्ड है और उसके पीछे काम करने की मुद्रा में खड़ी पांच-छह महिलाओं की तस्वीर है। पहली नजर में विज्ञापन यह असर छोड़ने में कामयाब दिखता है कि राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना यानी नरेगा में महिलाओं के लिए काम पाना आसान है। लेकिन हकीकत कुछ और है। महिला मजदूरों को कहीं यह कहा जाता है कि वे पुरुष मजदूरों की तुलना में कम शारीरिक श्रम कर पाती हैं तो कहीं तलाकशुदा, परित्यक्ता जैसी एकल महिलाओं को इसलिए अलग से जॉब कार्ड देने से इनकार किया जाता है। ऐसी महिलाओं की स्वतंत्र आर्थिक निर्भरता के विभिन्न पहलुओं को इस रोजगार गारंटी योजना में तवज्जो नहीं दी गई।

उदाहरण के तौर पर उत्तर प्रदेश के संत कबीर नगर जनपद के बाघोली, सेमीरियांता, मेहंदावल, हैंसर, नाथनगर, पौली, बेहलर, खलीलाबाद और शांथा प्रखंडों में महिला मजदूरों की संख्या पुरुषों के बराबर है, लेकिन सिर्फ तीस फीसद महिला मजदूरों को जॉब कार्ड जारी किया गया है। जिन महिला मजदूरों को जॉब कार्ड जारी किया भी गया है, जिला, क्षेत्र और ग्राम पंचायतें उनसे काम लेने से कतरा रही हैं। अधिकतर कार्यदायी संस्थाओं का मानना है कि अगर उन्हें रोजगार दिया जाता है तो यह अतिरिक्त मजदूरी खर्च करना होगा। इसके अलावा महिला मजदूरों को मिलने वाली कम दिहाड़ी भी एक मुद्दा है।

दरअसल, लैंगिक पूर्वाग्रह के चेहरे वाले इस रूढ़ सोच की कीमत महिलाएं सदियों से चुकाती आ रही हैं। श्रम बाजार में नियोक्ता आज भी उसी व्यवस्था के अधीन है जिसमें परिवार का मुखिया पुरुष है। पुरुष की भूख उसकी अकेले की न होकर पूरे परिवार की है। लिहाजा, वह महिला की तुलना में ज्यादा वेतन या दिहाड़ी पाने का हकदार है। महिला को मिलने वाली मजदूरी से परिवार नहीं पलते, इसलिए वह कम की हकदार है। अगर कोई महिला पुरुष के बराबर पारिश्रमिक की मांग करती है तो नियोक्ता दो तर्कों से उसे चुप करा देता है।

पहला, तुम काम नहीं करोगी तो सैकड़ों मिल जाएंगे और दूसरा यह कि अगर पुरुष जितनी दिहाड़ी देनी है तो औरत को बाहर कर पुरुष को ही काम देना ज्यादा लाभ का सौदा है। महिला मजदूरों के प्रति यह प्रतिकूल सोच एक गंभीर मुद्दा है। इसका खमियाजा महिलाएं कई रूपों में भुगतती हैं जिनमें उनके भीतर जन्मी हीन भावना एक सबसे बड़ा नतीजा है, जिसके कारण वे सक्षम होते हुए भी अपने भीतर छिपी क्षमताओं का सही मूल्यांकन नहीं कर पातीं।

ऐसा नहीं है कि केवल निजी कंपनियां इस रूढ़ सोच की शिकार हैं। जिला, क्षेत्र और ग्राम पंचायतें यानी सरकारी विभाग भी महिला मजदूरों से काम लेने से कतराते हैं। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना जैसी महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक सरकारी योजनाओं में भी महिलाओं के प्रति यही रवैया बरकरार है। पुरुषों या महिलाओं में बिना भेदभाव के रोजगार की गारंटी वाले प्रावधान के बावजूद मजदूरी करने की इच्छुक महिला मजदूरों के सामने कई तरह की बाधाएं पेश आ रही हैं। एक सर्वेक्षण के मुताबिक पुरुष को परिवार के मुखिया के रूप में परिभाषित करने वाली रूढ़ परिभाषा के कारण एकल महिलाएं इस योजना से लाभान्वित नहीं हो पा रही हैं।

यों तो एकल महिला अपने-आप में एक ऐसी अलग सामाजिक इकाई है जिसके अपने अधिकार हैं। लेकिन इस योजना में एकल महिलाओं को अलग से जॉब कार्ड जारी नहीं किए जा रहे हैं। खासतौर पर विधवा, तलाकशुदा, परित्यक्ता, अलग रहने वाली या अविवाहित महिलाओं को अपने परिवार के दूसरे सदस्यों पर निर्भर रहने के लिए मजबूर किया जा रहा है। हालांकि नरेगा विधेयक में स्पष्ट किया गया है कि परिवार के दायरे में परिवार के वे सदस्य शामिल हैं, जिनका आपस में खून का या वैवाहिक रिश्ता है। इस परिभाषा के तहत गोद लिया जाने वाला रिश्ता भी आता है।

छोटे परिवार की व्याख्या में मां, पिता, उनके बच्चे और घर के मुखिया पर आश्रित अन्य सदस्यों को जगह दी गई है। एकल परिवार में ऐसी औरत जो घर की मुखिया है, वही अलग से जॉब कार्ड हासिल कर सकती है। लेकिन अगर कोई एकल औरत कुवांरी, विधवा, तलाकशुदा या परित्यक्ता है और अपने पिता, भाई या बेटे के साथ घर में रहती है, तो उसे स्वतंत्र रूप से जॉब कार्ड नहीं दिया जा सकता। ऐसे में वह महिला अपने पिता या भाई के नाम पर जारी जॉब कार्ड पर ही काम कर सकती है।

आर्थिक रूप से इस तरह की परनिर्भरता महिलाओं को कचोटती है। अलग जॉब कार्ड मिलने से कठिन परिस्थितियों में जिंदगी बसर करने वाली महिलाओं के भीतर आत्मसम्मान और स्वतंत्र होने का जो एहसास पैदा होता है, वह उन्हें एक सकारात्मक ऊर्जा भी देता है। पुरुष वर्चस्व वाले समाज में स्त्री को उसका हक दिलाने की दिशा में राष्ट्रीय गामीण रोजगार गारंटी योजना के तहत एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया। लेकिन योजनाओं को अमलीजामा पहनाने वालों के रवैये के कारण अब तक उसका जमीन पर उतरना बाकी है।

विधवा के लिए एक अदद आश्रम

अंजलि सिन्हा

देश की आला अदालत ने राष्ट्रीय महिला आयोग से कहा है कि वह वृंदावन की विधवाओं की स्थिति का पता लगाने के लिए एक सर्वेक्षण कराए और बताए कि ये महिलाएं कहां-कहां से आई हैं तथा किस पृष्ठभूमि की हैं। सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्देश एक जनहित याचिका की सुनवाई के दौरान दिया है। यह याचिका 'सोसायटी फॉर एनवायरनमेंट प्रोटेक्शन' की ओर से रविंद्र बाना ने दायर की थी तथा इसकी सुनवाई सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश केजी बालकृष्णन तथा न्यायाधीश पी सतशिवम् की खण्डपीठ कर रही थी।

यह बताने की जरूरत नहीं है कि यहां की विधवाओं की स्थिति दयनीय और चिंतनीय बनी हुई है। कुछ वर्ष पूर्व के आंकड़ों के मुताबिक पूरे देश में तीन करोड़ तीस लाख विधवाएं हैं। याचिकाकर्ता ने बताया है कि वृंदावन में लगभग 20 हजार विधवाएं रहती हैं, जो दाने-दाने को मोहताज हैं। वे मंदिरों के आगे भजन गाकर तथा भीख मांग कर अपनी भूख शांत करती हैं। इनके दैहिक शोषण की खबरें भी आती रहती हैं।

दिल्ली के ही एक और समाजसेवी संगठन 'गिल्ड ऑफ सर्विस' के सर्वेक्षण के मुताबिक वृंदावन में विधवाओं की संख्या लगातार बढ़ रही है। इनमें से कुछ घर वालों की उपेक्षा के कारण तो कुछ सहारे की तलाश में यहां पहुंच जाती हैं। मालूम हो कि इन विधवाओं में बंगाल से आने वाली महिलाओं का अच्छा-खासा अनुपात है। यह भी देखने में आया है कि संपत्ति की दावेदारी से हटा देने के लिए परिवार के लोग ही कइयों को भुलावे में डालकर यहां ले आए और यहीं छोड़ कर

कुछ वर्ष पूर्व के आंकड़ों के मुताबिक पूरे देश में तीन करोड़ तीस लाख विधवाएं हैं। सुप्रीम कोर्ट में सक याचिका में बताया गया है कि वृंदावन में लगभग 20 हजार विधवाएं रहती हैं, जो दाने-दाने को मोहताज हैं। वे मंदिरों के आगे भजन गाकर तथा भीख मांग कर अपनी भूख शांत करती हैं। इनके दैहिक शोषण की खबरें भी आती रहती हैं।

रफूचक्कर हो गए। कुछ साल पहले बंगाल की सरकार ने भी इस मसले पर एक अध्ययन कराया था। गिल्ड ऑफ सर्विस की अध्यक्षा डॉ. मोहिनी गिरी के मुताबिक कुछ साल पहले सरकार ने एक समिति का गठन किया था, जिसे विधवाओं की स्थिति तथा उनकी जरूरतों पर अपनी रिपोर्ट पेश करनी थी, जिसका अभी तक कुछ अता-पता नहीं चल सका है। वृंदावन में इन विधवाओं के लिए छह आश्रम हैं, जिसमें दो हजार से अधिक विधवाएं रहती हैं, शेष भीख मांग कर किसी तरह गुजारा करती हैं। कुछ स्वयंसेवी संस्थाएं इनके लिए जो प्रयास करती हैं, वह अपर्याप्त है। वैसे भी इनके अधिकारों की रक्षा चैरिटी के भरोसे कतई नहीं की जानी चाहिए। ऐसा मानवीय गरिमा के विरुद्ध है कि वे दान खाते के भरोसे अपना जीवनयापन करें।

यह गहन विमर्श का मसला है कि आखिर पति की मृत्यु के बाद उन्हें क्यों आश्रम या सड़क पर पहुंचना पड़ता है। यह हमारे समाज में परिवार के अंदर औरत की वास्तविक हैसियत का सीधा और सपाट बयान है। वही परिवार जिसके मजबूत बंधन की गाथा पश्चिमी देशों के कथित टूटते परिवारों के बरअक्स गाई जाती है। यदि औरत के पास जीवन जीने के लिए अपनी आय का स्रोत होता, घर की संपत्ति में हिस्सेदारी होती तो क्या वह शौक से सड़कों पर भीख मांगती, क्या उसे आश्रम का आकर्षण वृंदावन तक खींच पाता। यदि वह किसी गलतफहमी में आ भी जाती तो वापस चली जाती, बिल्कुल अपने घर में, जो उसका अपना होता। विडंबना यही है कि उसका अपना उस घर में कुछ नहीं होता है। जब तक शादी नहीं हुई, तभी तक मायका और जब तक पति साथ है तभी तक ससुराल है वरना सब बेगाने। यदि पति जिंदा हो, तब भी अपने दम पर होती तो मरने पर दुख तो होता साथ छूटने का, लेकिन वह बेसहारा नहीं होती। वह ससुराल और मायके के बीच का फुटबॉल न होकर ऐसे घर का खम्भा होती, जो अपने ही सहारे खड़ा होना सीख लिया होता। विधवाओं की समस्या का समाधान आश्रमों की संख्या बढ़ा देने से या कुछ और स्वयंसेवी संस्थाओं को इनके उद्धार के लिए पैसा दे देने से नहीं होगा, बल्कि औरत को एक नागरिक की तरह उसे सारे अधिकार मिले - चाहे वह रिश्ते में कुछ भी हो, सधवा हो या विधवा। कानूनन हर लड़की को पिता की संपत्ति में 2005 से बराबर का हक मिल गया है, लेकिन अभी भी वह कागज पर ही मौजूद है। अमल में बहुत कम ही आ पाता है। हमारे समाज में परिवार लड़की को दहेज देने के लिए तैयार है, लेकिन हिस्सा उसे अभी नहीं दिया जा रहा है। परिवार के अंदर भावनात्मक रिश्ते महत्वपूर्ण होते हैं, लेकिन सिर्फ वही काफी नहीं हैं, बल्कि बराबर की हैसियत और अधिकार भी जरूरी है। जवानी बीतने के बाद जब बुढ़ापा और अशक्तता घेरती है, तब स्त्री हो या पुरुष - सभी को पेंशन, ईलाज आदि सभी सुविधाएं एक नागरिक के तौर पर मिलनी चाहिए और ये सुविधाएं उस स्थिति में भी प्राप्त हों, जहां परिवार के सदस्य साथ दे रहे हों या जहां नहीं भी दे रहे हों। ऐसा सुनिश्चित किए जाने पर ही इंसान को किसी से याचना या दया की अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी। इसी के साथ हर व्यक्ति को खुद भी अपने भविष्य की योजना बनानी चाहिए। हालांकि वैधव्य तो जवानी में आ जाए तो भी वह तिरस्कृत होती है और इसका मुकाबला उसे स्वयं के सहारे जीवनयापन की हालत पैदा करने से ही होगा। इस स्थिति पर सोचना चाहिए कि क्यों किसी विधुर को विधुर पेंशन नहीं चाहिए, वहीं विधवा को विधवा पेंशन चाहिए। विधुर, जिसकी पत्नी मर गई होती है, उसे आश्रम में नहीं जाना पड़ता है, उसे घर से निकाला नहीं जाता है, लेकिन वही व्यवहार विधवा के साथ नहीं होता है। अंततोगत्वा यही सोचना होगा कि हर व्यक्ति अंतिम पड़ाव तक अपने ही आय के स्रोतों पर निर्भर रहेगा।

(लेखिका 'स्त्री अधिकार संगठन' से सम्बद्ध हैं और सत्यवती कॉलेज (सांध्य) में काउंसिलर के पद पर कार्यरत हैं।)

भेदभाव की छाया में

पंचायती राज

सुभाष गाताडे

सूचे दक्षिण एशिया में सत्ता के विकेंद्रीकरण के अभूतपूर्व प्रयोग के तौर पर पंचायती राज के प्रयोग को नवाजा जा रहा है। इस प्रयोग के करीब सोलह साल पूरे हो चुके हैं। कुछ समय पहले पंचायती राज पर केंद्रित कार्यक्रम में प्रधानमंत्री ने पंचायतों की तारीफ की और पंचायत प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण पर बल दिया था। लेकिन एक मसले पर वह चुप रहे।

दरअसल एक तरफ जहां इसके विभिन्न स्तरों पर चुन कर जाने वाले 25 लाख से अधिक प्रतिनिधियों की चर्चा होती है, वहीं यह बात बिसरा दी जाती है कि जाति, लिंग, संप्रदाय और वर्गीय आधारों पर बंटे हमारे समाज की बनावट की आंतरिक विसंगतियों पर इसका कोई असर नहीं पड़ता दिखता है।

राजस्थान के भरतपुर जिले के बल्लभगढ़ गांव की सरपंच सोनी देवी (55) उस दूसरे पहलू को उजागर करती है। सोनी देवी और उनका बेटा जल सिंह अभी भी उस प्राणघातक हमले से उबरे नहीं है, जिसका शिकार उन्हें जनवरी के पहले हफ्ते में होना पड़ा था। सुरक्षित सीट से जीत कर सरपंच बनी सोनी देवी से जाट लोग इसलिए नाराज थे कि उसने उसके कार्यकाल के दौरान संपन्न सार्वजनिक कामों के मजदूरों के मस्टर रोल उन्हें सौंपने से इनकार किया था। जाहिर था कि पैसे का घपला करने की उनकी इस चाल को सोनी देवी ने बेअसर कर दिया था। घटना के करीब पंद्रह दिन बीत जाने के बाद भी उसके हमलावर खुले घूम रहे थे। दलितों-आदिवासियों की रक्षा के लिए बने अनुसूचित जाति एवं जनजाति अधिनियम के तहत मुकदमा दर्ज करने की जहमत भी पुलिस ने नहीं उठाई थी।

पिछले दिनों जब राजस्थान में दलित मानवाधिकारों के लिए सक्रिय लोगों का समूह बल्लभपुर गांव पहुंचा तब उसने पाया कि न केवल दबंगों ने दलितों का सामाजिक बहिष्कार किया हुआ है बल्कि सभी गरीब लोग जबरदस्त दहशत में हैं। सोनी देवी किन हालात में सरपंच बनी उसकी दास्तां भी उन्हें सुनने को मिली। उसके पहले के सरपंच हरदेव कोली को भी उन्हीं आततायियों ने जबरदस्त मारा पीटा था और पद छोड़ने के लिए मजबूर किया था। इस मार के चलते हरदेव कोली हमेशा के लिए अंधे हो चुके हैं।

पंचायती राज संस्थाओं में सदस्य या पंच के तौर पर चुनी जाती अनुसूचित जाति की महिलाओं को किस तरह यौन अत्याचार और शारीरिक हिंसा झेलनी पड़ती है, इसके बारे में किए गए अध्ययन को कुछ महीने पहले प्रधानमंत्री को सौंपा गया था। गुजरात के आणंद स्थित 'इंस्टीट्यूट आफ रूरल मैनेजमेंट' जैसे प्रतिष्ठित संस्थान के नतीजे

चौंकाने वाले थे। 'स्टेट आफ पंचायत : 2007-2008' शीर्षक से जारी रिपोर्ट के मुताबिक अनुसूचित जाति की इन महिला पंचों को 'बड़े पैमाने पर' उत्पीड़न झेलना पड़ता है। अध्ययन के मुताबिक, त्रिस्तरीय पंचायतों के चुनावों में अनुसूचित जाति के करीब पांच लाख सदस्य चुने जाते हैं, जिनमें से चालीस फीसद महिलाएं होती हैं।

आम तौर पर यही देखने में आता है कि पंचायतों की सदस्य बनी पढ़ी लिखी और संपन्न महिलाएं चुने जाने के बाद पंचायतों से दूर ही रहती हैं जिसने 'मुखिया पति' की परिघटना को जन्म दिया है, जहां उनके पति या परिवार के अन्य पुरुष सदस्य मुखिया के उनके कर्त्तव्यों को निभाते हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग व सेंटर फार सोशल रिसर्च के अध्ययन में इस मसले पर रोशनी डाली गई थी। प्रस्तुत अध्ययन में उन्होंने यही पाया था कि अधिकतर महिलाएं पंचायतों की नामधारी सदस्य होती हैं और परिवार के पुरुष ही असली सत्ता संभालते हैं।

पंचायत के अनुसूचित जाति सदस्यों को अपने सार्वजनिक भूमिकाओं को प्रभावी ढंग से निभाने में आनेवाली मुश्किलें दो स्तरों पर हैं। इसका पहला स्तर उंची या दबंग जातियों के प्रभावों वाली पंचायतों में बाकी पंचों के उनके साथ व्यवहार से संबंधित होता है। अपने अधिकारों के प्रति सचेत अनुसूचित जाति के पंचों के खिलाफ बाकी सदस्य अक्सर अविश्वास प्रस्ताव का हथियार इस्तेमाल करते हैं। मुश्किलों का दूसरा स्तर नौकरशाही के स्तर पर है, जहां छोटे पदों पर कार्यरत सरकारी अधिकारी भी उनके साथ 'उपेक्षा' से पेश आते हैं।

दूसरी तरफ जातीय उत्पीड़न और पितृसत्ता दोनों को चुनौती देते निम्न तबके की या कथित निम्न जातियों की पंचायत सदस्य कम से कम पंचायत की देहरी चढ़ती हैं और वहीं उन्हें गांव और नौकरशाही के तंत्र में व्याप्त जातीय घृणा का शिकार होना पड़ता है।

'इंस्टीट्यूट आफ रूरल मैनेजमेंट' की रिपोर्ट कुछ साल पहले राजस्थान में एक जन-सुनवाई की याद ताजा करती है। राजस्थान की कुछ सामाजिक संस्थाओं ने पहल लेकर इस जन-सुनवाई का आयोजन किया था जिसके बाद 'दलित महिला सरपंचों की कहानी उनकी जुबानी' नाम से रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई थी, जिसमें उन्होंने इस बात को साफ तौर पर नोट किया था कि 'दलित महिला जनप्रतिनिधियों को तिहरा दमन झेलना पड़ता है - एक औरत होने की पीड़ा, उस पर दलित होने का दर्द और सबसे ज्यादा गरीबी की मार।' उसमें उन्होंने पाया कि आरक्षण की वजह से भले ही दलितों/महिलाओं को पंचायतों में जगह मिल जाती हो लेकिन अनुभव यही बताता है कि सत्ता के विकेंद्रीकरण और दलितों और महिलाओं के सशक्तीकरण का लक्ष्य अधूरा ही रह गया है।

जनसुनवाई में सबसे पहले अजमेर के रसूलपुरा पंचायत की छग्गीबाई ने अपनी आपबीती बयां की थी कि किस तरह मनमाने तरीके से बेबुनियाद आरोप लगा कर उसके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था तथा उसे हटा दिया गया था। इस मामले मे प्रशासन भी मूकदर्शक बना रहा। शेरगढ़ पंचायत की केसन बाई जब चुनाव जीतने के बाद पंचायत भवन पहुंची तो उच्च वर्ग के लोगों ने उसे पहले घुसने ही नहीं दिया। जब वह किसी तरह अंदर पहुंची, तब उन्हें सरपंच की कुर्सी पर बैठने नहीं दिया गया। ❐

उपहार के तार

अंजलि सिन्हा

समाज

यों तो उपहारों का लेन-देन और इनके माध्यम से भावनाओं का आदान-प्रदान पुरानी बात है और यह अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन अगर हम गौर करें तो पाएंगे कि उपहार देने के मामले में आमतौर पर पुरुष ही हर बार आगे रहते हैं। दो घटनाओं पर नजर डालते हैं। बल्लभगढ़ की भाटिया कॉलोनी में एक प्रेमी ने अपनी प्रेमिका की मदद के मकसद से या अपना प्रभाव जमाने के लिए नोटों से भरा बैग प्रेम-पत्र के साथ उसकी छत पर रख दिया, जिसे बच्चों ने देख लिया।

प्रेमिका के पिता ने यह सोच कर पुलिस को फोन कर दिया कि पता नहीं बैग में क्या हो। अब प्रेमी थाने का चक्कर लगा रहा है। इसी तरह दक्षिणी दिल्ली के एक इलाके से एक युवक को एअरटेल के ग्राहकों से फर्जी बिल वसूली में पकड़ा गया। पता चला कि वह नौकरी तो करता है, लेकिन अपनी महिला मित्रों पर पैसा खर्च करने के लिए उसे अतिरिक्त पैसे की जरूरत थी, जिस कारण वह इस फर्जीवाड़े में उतर गया।

कुछ समय पूर्व करवा चौथ के पहले टीवी-रेडियो या दूसरे प्रचार माध्यमों में ऐसे विज्ञापनों की भरमार थी जिनमें पति को यह मशविरा दिया जा रहा था कि इस शुभ अवसर पर उसे पत्नी को क्या देना चाहिए। एक अखबार के दैनिक परिशिष्ट के मुखपृष्ठ पर जो तस्वीर थी उसमें पत्नी छलनी के पार चांद को देख रही है और पति गहनों का बक्सा पीछे छुपाए खड़ा है। फिल्मों में भी हम देखते हैं कि प्रेमिका नाराज है तो प्रेमी महोदय कोई महंगा या मन को ललचा देने वाला तोहफा लेकर आते हैं और प्रेमिका फिर से उस पर लट्टू हो जाती है।

इस चलन पर अगर हम विचार करें तो स्त्री-पुरुष की भिन्न सामाजिक हैसियत को आसानी से विश्लेषित कर सकते हैं। जिसके पास देने के लिए होता है और जो खुद को इस लायक समझता है, जाहिर है देने की स्थिति में भी वही होता है। लड़कों को शुरू से ही इस लायक बनने की सीख दी जाती है कि आर्थिक रूप से वे अपने कंधे को मजबूत बनाएं क्योंकि परिवार के खर्चे का बोझ उन्हें उठाना है, बुजुर्गों का सहारा बनना है। यही वजह है कि पढ़-लिख कर रोजगार हासिल करने का दबाव तुलनात्मक रूप से लड़कों पर अधिक होता है। स्वाभाविक रूप से वे कमाऊ सदस्य का दर्जा प्राप्त करते हैं और खुद को दाता की स्थिति में भी पाते हैं। इसी बुनियाद पर तैयार हुई मानसिकता उन्हें उपहार देने को प्रेरित करती है। अगर केवल हिंदू पर्व-त्योहारों की बात करें तो चाहे रक्षा बंधन हो, भैया दूज या करवा चौथ- सभी में महिलाएं ही उपहार पाती हैं।

उपहारों को इस कदर महिमामंडित करने के पीछे पितृसत्ता का जो खेल चलता है और इस संस्कृति की जो सियासत है, इसे महिलाएं शायद नहीं समझ पातीं। दरअसल, महिलाएं उपहार से ही खुश रहें तो अच्छा रहता है। बराबर के हक और हिस्सेदारी उनके लिए हमेशा ही मृगमरीचिका बने रहते हैं। हालत यह है कि आज एक महिला कमाने की स्थिति में होने के बावजूद एक अर्जक की सत्ता या ओहदा हासिल नहीं कर पाई है। अब भी उसकी मानसिकता निर्भरता वाली बनी हुई है। उसे बहुत खुशी होती है कि उसका प्रेमी या पार्टनर या पति उसे उपहार देता है। यह उसके संस्कार में रच-बस गया है।

त्योहारों, रीति-रिवाजों के अलावा रोज के जीवन में उसकी यह अपेक्षा बनी रहती है कि उसका साथी उसके लिए उपहार लेकर आएगा। ऐसी बहुत सारी महिलाओं को देखा जा सकता है जो खुद बीस-पच्चीस हजार या उससे ज्यादा रुपए महीने की आमदनी के तौर पर कमाती हैं, लेकिन यह बताना उनके लिए आह्लाद का विषय होता है कि किसी भी त्योहार पर उनके पति उन्हें गिफ्ट देना नहीं भूलते।

देश-दुनिया का परिदृश्य आज तेजी से बदल रहा है। इसलिए अपनी मानसिकता बदलने की भी जरूरत है। हर स्त्री को चाहे वह प्रेमिका, पत्नी, बहन या दोस्त कोई भी हो, खुद पर भरोसा करने और बराबरी के रिश्ते बनाने साथ-साथ परस्पर निर्भरता की बात सोचनी चाहिए। किसी महिला को क्यों एक ऐसा साथी चाहिए जो उसकी जरूरतों को पूरा करने के लिए अकेले जिम्मेदार हो।

अपनी जरूरतें पूरी करने की सीख लड़कियों को बचपन से ही मिलनी चाहिए। भावनात्मक रिश्तों के लिए वस्तुओं के आदान-प्रदान का सहारा न लेना पड़े तो शायद यह सबसे आदर्श स्थिति हो। लेकिन अगर सचमुच ऐसा होने लगा तो इसका सबसे बड़ा नुकसान बाजार को उठाना पड़ेगा। इसलिए वह ऐसा होने की सारी संभावनाओं को खत्म करेगा। मदर्स डे, डॉटर्स डे जैसे हर दिन को एक विशेष दिन के रूप में स्थापित करने की कोशिश इसी का नतीजा है, ताकि हर जरूरी खर्च से कटौती करके पैसे गैरजरूरी चीजों पर खर्च किया जाए। यानी तोहफा देने की मानसिकता के तार बाजार से भी जुड़ते हैं।

ग्लोबल वार्मिंग से गहराता खाद्य संकट

मुद्दा

ज्ञानेन्द्र रावत

विश्व के वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि यदि हमने वैश्विक तापमान बढ़ोतरी पर काबू नहीं किया तो वह दिन दूर नहीं जब यह आपदा पृथ्वी की जलवायु और पर्यावरण को पूरी तरह तहस-नहस कर देगी। इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र महासचिव वान की मून का भी कहना है कि ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु में बदलाव ने हमें विनाश के मुहाने पर ला खड़ा किया है। लेकिन विडम्बना यह है कि इसके भयावह खतरे को हम गंभीरता से समझ नहीं पा रहे हैं।

वैश्विक तापमान के बारे में नासा के गोडार्ड इंस्टीट्यूट फॉर स्पेस स्टडीज के अध्ययन में खुलासा हुआ है कि बीते 30 सालों में धरती का तापमान 0.2 डिग्री सेल्सियस बढ़ गया है। यदि इसमें एक डिग्री का इजाफा हो जाता है तो यह पिछले 10 लाख साल के अधिकतम तापमान के बराबर हो जाएगा। वर्तमान में मानव जनित यह प्रदूषण खतरनाक स्तर के करीब पहुंच गया है। रूटगर्स यूनीवर्सिटी के प्रख्यात मौसम विज्ञानी ऐलेन रोबॉक कहते हैं कि यदि आने वाले समय में ग्लोबल वार्मिंग दो-तीन डिग्री और बढ़ जाती है तो धरती की तस्वीर ही बदल जाएगी। वैज्ञानिकों के अनुसार 21 वीं सदी बीतते-बीतते धरती का औसत तापमान 1.1 से 6.4 डिग्री सेंटीग्रेड तक बढ़ जाएगा। भारत में बंगाल की खाड़ी व उसके आसपास यह वृद्धि 2 डिग्री और हिमालयी क्षेत्र में चार डिग्री तक होगी जो समूची सभ्यता को तहस-नहस कर देगी।

सबसे बड़ी बात यह है कि जलवायु परिवर्तन के चलते समूचे विश्व में जो खाद्य संकट गहराएगा उससे निजात पाना आसान नहीं होगा। वाशिंगटन विश्वविद्यालय के जलवायु विज्ञान विभाग के बीते दिनों किए गए एक अध्ययन में इस बात की पुष्टि हुई है कि जलवायु परिवर्तन की बढ़ती समस्या इस सदी के अंत तक दुनिया की आधी आबादी को खाद्यान्न से वंचित कर सकती है। वैज्ञानिकों की चेतावनी है कि इस संकट का उष्णकटिबंधीय इलाकों में फसल पैदा करने की क्षमता पर सबसे ज्यादा कुप्रभाव पड़ेगा और इसकी सबसे ज्यादा मार विषुवतीय इलाकों को झेलनी पड़ेगी। इन इलाकों में ही दुनिया की सबसे अधिक गरीब और पिछड़ी आबादी रहती है। मौजूदा समय में उष्णकटिबंधीय और उपउष्ण कटिबंधीय इलाकों में तीन अरब लोग रहते हैं जिनकी संख्या सदी के अंत तक बढ़कर दोगुनी हो जाएगी। इनके लिए खाद्यान्न की व्यवस्था करना टेढ़ी खीर होगी। कारण यह विषुवतीय पट्टी दक्षिणी अमेरिका, उत्तरी अर्जेंटीना, दक्षिणी ब्राजील, उत्तर भारत, दक्षिणी चीन, दक्षिणी आस्ट्रेलिया और अफ्रीका तक फैली हुई है। इन इलाकों में तापमान में बढ़ोतरी से मक्का और धान जैसी मुख्य फसलों की उत्पादन क्षमता पर व्यापक दुष्प्रभाव पड़ेगा। विशेषज्ञों की राय में अकेले मक्का और धान की पैदावार में 20 से 40 फीसद तक की कमी आयेगी।

हालात की भयावहता की ओर इशारा करते हुए 'क्रिश्चयन एड' नामक संस्था की रिपोर्ट कहती है कि मौसम के बदलाव के कारण भविष्य में आजीविका के संसाधनों यानी पानी की कमी और फसलों की बर्बादी के चलते सन 2050 तक दुनिया के एक अरब निर्धन लोग घर-बार छोड़ शरणार्थी रूप में रहने को विवश होंगे। यूएन की अंतरसरकारी पैनल की रिपोर्ट के अनुसार 2080 तक 3.2 अरब लोग पानी की तंगी से, 60 करोड़ लोग भोजन और तटीय इलाकों के 60 लाख लोग बाढ़ की समस्या से जूझेंगे। कोलम्बिया यूनीवर्सिटी के वैज्ञानिक स्टोफन मोर्स के अनुसार ग्लोबल वार्मिंग के कारण मलेरिया, फ्लू आदि बीमारियां पूरे साल फैलेंगी। पहाड़ों पर ठंड के बावजूद मलेरिया फैलेगा। लोगों को पहले के मुकाबले ज्यादा संक्रामक रोगों का सामना करना पड़ेगा। शहरों की ओर पलायन के फलस्वरूप आवासीय व जनसंख्या की समस्या विकराल होगी, दैनिक सुविधाएं उपलब्ध कराने में प्रशासन को दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा और खासकर विकासशील देशों में उच्च घनत्व वाली आबादी के बीच एचआईवी, तपेदिक, श्वास रोग व यौन रोगों में वृद्धि होगी।

कुल मिलाकर ग्लोबल वार्मिंग की मार से शहरी हो ग्रामीण, अमीर हो या गरीब- कोई भी नहीं बचेगा। बिजली-पानी के लिए त्राहि-त्राहि करते लोग संक्रामक बीमारियों के शिकार होकर मौत के मुंह में जाने को विवश होंगे। सरकार दावे करते नहीं अघाती कि वह जलवायु परिवर्तन पर काबू पाने में धन की कमी नहीं होने देगी लेकिन हकीकत यह है कि पोजनॉन में हुई कान्फ्रेन्स ऑफ पार्टीज की बैठक में भले एडॉप्टेशन फंड के इस्तेमाल पर सहमति बन गई हो, फिर भी स्थिति यह है कि इसके लिए 270 अरब रुपए (छः करोड़ डॉलर) की जो राशि फिलहाल मौजूद है वह अपर्याप्त है। इसके लिए सालाना 60 से 80 अरब डॉलर की राशि चाहिए। इन हालात में जलवायु परिवर्तन पर काबू पाने की उम्मीद करना बेमानी है।

जागरूक नागरिक लोकतंत्र की जरूरत

सूचना का अधिकार

एम एम अंसारी

पिछले करीब तीन वर्षों में सूचना के अधिकार ने देश के लोगों को इस लायक बनाया है कि वे आर्थिक और राजनीतिक मामलों में अपने ठोस फैसले कर सकें। लोग न सिर्फ अपने जीवन स्तर को सुधारने के लिए बड़े पैमाने पर सूचना के अधिकार का इस्तेमाल कर रहे हैं, बल्कि इसके जरिये अब वे अपने निर्वाचित जन प्रतिनिधियों के प्रदर्शन को निगरानी भी करने लगे हैं। हाल में मीडिया द्वारा विधानसभा चुनावों के दौरान मतदाताओं से किए गए वायदे और उन्हें पूरा करने के लिए किए गए खर्च व उपलब्धियों को प्रचारित-प्रसारित किया गया तथा उस पर गंभीर बहसें आयोजित की गईं। मीडिया के ऐसे कदमों से लोकतांत्रिक शासन में गुणात्मक बदलाव की शुरुआत हो रही है।

सूचना के अधिकार कानून की प्रस्तावना में कहा गया है कि लोकतंत्र को जागरूक नागरिकों और पारदर्शी सूचनाओं की आवश्यकता होती है। उसके सुचारू संचालन के लिए ये दोनों अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं और साथ ही भ्रष्टाचार को रोकने एवं सरकारों व उनके अंगों को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए भी ये जरूरी हैं। इस कानून को लागू करने के लाभ दिखने लगे हैं। लोग अब सवाल पूछने लगे हैं। वे अब संबंधित अधिकारियों से उन वजहों के बारे में पूछते हैं, जिन्होंने उनके सामाजिक-आर्थिक कल्याण के लिए बनी योजनाओं को उन तक पहुंचने नहीं दिया। और इस प्रकार प्राप्त सूचनाओं के आधार पर वे गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने एवं उनके क्रियान्वयन में दिलचस्पी के साथ जुड़ रहे हैं।

अभी कुछ समय पहले तक विभागीय भ्रष्टाचार एवं काहिली के कारण सरकार द्वारा मुहैया कराई जाने वाली खाद्य सुरक्षा के लाभ जरूरतमंदों तक नहीं पहुंच पाते थे। लेकिन सूचना के अधिकार के अस्तित्व में आने के बाद चूंकि अब कोई भी सजग नागरिक उनकी छानबीन करने में सक्षम है, सो अब अधिक प्रभावशाली तरीके से कार्यों का निष्पादन हो रहा है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना के तहत गांवों में गरीबों के जीवन की रक्षा के लिए एक वर्ष में कम से कम सौ दिन काम मुहैया कराए जाने का प्रावधान किया गया है। इस प्रकार, एक कार्डधारक की सालाना कमाई में 60 रुपये दैनिक मजदूरी के हिसाब से वर्ष भर में 6,000 रुपये की अतिरिक्त कमाई जुड़ती है।

आरटीआई कानून को लागू हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं, लेकिन पिछले तीन वर्षों में जिस बड़े पैमाने पर इसका इस्तेमाल लोगों ने किया है, वह उत्साहजनक है

इसलिए लोग अब इस योजना के बारे में विस्तार से पूछते हैं। वे ग्रामीण समुदाय के लिए इस कार्यक्रम की प्रासंगिकता, इसके फंड के उपयोग और चिह्नित वर्ग को मजदूरी के भुगतान के बारे में जानकारी मांगते हैं। इस कार्यक्रम से जुड़े मस्टर रोल जैसे विवरणों के खुलासे से न सिर्फ भ्रष्टाचार पर रोक लगी है, बल्कि इसका लाभ भी जरूरतमंदों तक पहुंच रहा है। साथ ही उन अधिकारियों की शिनाख्त करने में भी मदद मिली है, जो इस कार्यक्रम को प्रभावी तरीके से लागू करने में बाधाएं खड़ी करते हैं। जाहिर है, इस योजना के तहत ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं के विकास से विभिन्न क्रियाकलापों की उत्पादकता बढ़ेगी, साथ ही वहां आय और रोजगार के अवसरों में वृद्धि होगी।

स्कूली बच्चों के लिए मिड-डे-मिल योजना खाद्य सुरक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। यह न सिर्फ गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले बच्चों में कुपोषण कम कर रहा है, अपितु पर्याप्त और संतुलित आहार के कारण उनकी सीखने की क्षमता को भी बढ़ा रहा है। चूंकि मिड-डे-मिल योजना की निगरानी करने में सभी हिस्सेदार सक्षम हैं, अतः इस योजना से बच्चों की सेहत और मानसिक क्षमता में सुधार हो रहा है। इसी तरह, समेकित बाल विकास योजना का एक कार्य गरीब बच्चों को पोषण संबंधी सहायता उपलब्ध कराना है। गैर सरकारी संगठनों और संबंधित तबकों ने आरटीआई का इस्तेमाल कर इसका लाभ जरूरतमंद बच्चों को सुनिश्चित कराया है।

इस प्रकार, सूचना के अधिकार ने बेहतर शासन और गरीबी उन्मूलन की क्रांतिकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में असरदार प्रभाव डाला है। लेकिन इसे और अधिक लाभकारी बनाने के लिए कुछ अन्य कदम उठाने जरूरी हैं। सबसे पहले तो सूचनाओं तक पहुंचने के लिए हमें अपनी क्षमता विकसित करनी होगी। और यह क्षमता निर्माण खासतौर पर ग्रामीण इलाकों में दोनों स्तरों पर किया जाना चाहिए, यानी नागरिक के स्तर पर भी और सूचना देने वाले के स्तर पर भी। इसके लिए एक व्यापक सूचना प्रबंधन प्रणाली विकसित की जानी चाहिए, जो सूचनाओं और आंकड़ों का संग्रहण और संरक्षण करे, ताकि सूचना मांगने वाले को वह तत्काल उपलब्ध कराई जा सके। दरअसल, गरीबों में जागरूकता का लेबल दस फीसदी से भी कम है और यह उन्हें आरटीआई का लाभ दिलाने की राह में सबसे बड़ी बाधा है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि लोगों को इस बात का प्रशिक्षण दिया जाए कि वे कैसे तय करें कि किस संदर्भ में, किससे और कैसे सूचना मांगी जानी चाहिए।

इसके साथ ही गरीबी उन्मूलन से संबंधित तमाम योजनाएं इस कदर पारदर्शी बनाई जानी चाहिए कि हर स्तर पर जिम्मेदारी तय की जा सके। आवश्यक सेवाओं के वितरण में समानता और न्याय सुनिश्चित करने के लिए यह बेहद आवश्यक है।

(लेखक केंद्रीय सूचना आयुक्त हैं)

एक अरब भूखों की अनदेखी क्यों ?

विश्व परिदृश्य

कुमार विजय

संयुक्त राष्ट्र के कृषि एवं खाद्य संगठन ने कहा है कि खाद्य पदार्थों की ऊंची कीमतों के कारण पिछले वर्ष दुनिया भर में और चार करोड़ लोग भूख पीड़ितों की श्रेणी में शामिल हो गए। इससे दुनिया भर में ऐसे बदनसीबों की संख्या करीब 96.3 करोड़ हो गई है। इनमें से भी करीब 90.7 करोड़ भूख पीड़ित तो विकासशील देशों में सांस लेते हैं। एशिया महादेश की बात करें, तो यहां दो-तिहाई लोग दो जून की रोटी से महरूम हैं, जबकि अफ्रीका के सहारा क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक तीन में से एक व्यक्ति भूख का शिकार है। अगर भारत के संदर्भों में बात करें, तो दुनिया के कुपोषित 88 देशों की फेहरिस्त में भारत का स्थान 66वां है। एशिया में बांग्लादेश को छोड़ भारत का स्थान सबसे खराब है।

हमारे देश में इस समय लगभग 23 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवन जी रहे हैं। भूख का गरीबी और गरीबी का अर्थव्यवस्था से कितना गहरा रिश्ता है, यह जानने के लिए अर्थशास्त्री होने की जरूरत नहीं है। फिर भी विश्व बैंक के विश्लेषण पर गौर करें, तो इस समय चल रहे वैश्विक आर्थिक मंदी के दौरान अगर विकासशील देशों की आर्थिक विकास दर में एक फीसदी की भी गिरावट होती है, तो लगभग दो करोड़ लोग गरीबी की दायरे में शामिल हो जाएंगे।

दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र को दी जाने वाली सहायता राशि में मंदी के कारण ज्यादातर देशों द्वारा कटौती की जा रही है। गौरतलब है कि यह संस्था दुनिया की सबसे बड़ी मानवीय एजेंसी है और लगभग 10 करोड़ लोगों को भोजन उपलब्ध कराती है। विश्व खाद्य कार्यक्रम एजेंसी ने पिछले सप्ताह कहा कि दुनिया के 12 सबसे अधिक भूख प्रभावित देशों के करीब पांच करोड़ लोगों की क्षुधा मिटाने के लिए उसे आर्थिक संघर्ष करना पड़ रहा है। स्थिति यह है कि अब इथियोपिया, जिंबाब्वे जैसे अन्य देशों को दी जा रही राशन आपूर्ति में कटौती की जाएगी।

विश्व खाद्य कार्यक्रम संस्था ने अंतरराष्ट्रीय दाताओं से अपील की है कि वर्ष 2009 में दुनिया भर में हाशिये के लोगों के भोजन की जरूरत को पूरा करने के लिए कम से कम पांच अरब, 20 करोड़ डॉलर की सहायता जरूर दें। लेकिन अभी तक सिर्फ 50 करोड़ डॉलर की ही व्यवस्था हो पाई है। संयुक्त राष्ट्र के शरणार्थी उच्चायुक्त ने यह स्वीकार किया है कि सहयोग राशि में भारी गिरावट आई है और इसके कारण शरणार्थियों की मदद पर विपरीत असर पड़ सकता है।

संयुक्त राष्ट्र के कल्याणकारी कार्यक्रमों के लिए जो सहायता राशि धनाढ्य देश देते रहे हैं, मंदी के कारण अब वे उसमें कटौती कर रहे हैं। लेकिन इससे भूख से जूझते लोगों का संकट गहरा गया है

विश्व खाद्य कार्यक्रम एजेंसी को जो सहायता मिलती है, उससे दुनिया के तीन करोड़ 30 लाख शरणार्थियों को मदद पहुंचाई जाती है। अब इसे मिलने वाली राशि में छह फीसदी तक की गिरावट आ सकती है। एजेंसी का मानना कि इस साल के अंत तक डॉलर के मूल्य में उतार-चढ़ाव के कारण एक अरब डॉलर का नुकसान हो सकता है। इसलिए वर्ष 2009 में एजेंसी अपने बजट में एक अरब डॉलर की कटौती करेगी। सवाल यह है कि ऐसे में, उसके 12 बड़े मानवीय कार्यक्रमों का क्या होगा? एजेंसी के मुताबिक, 12 में से नौ के लिए किसी दाता ने अभी तक दान की पुष्टि नहीं की है। इथियोपिया और जिंबाब्वे में जरूरतमंद लोगों को दिए जा रहे राशन में कटौती की जा रही है। अब वहां एक परिवार में छह सदस्यों के हिसाब से ही राशन बांटा जाएगा। जाहिर है, जिन परिवारों में सदस्यों की संख्या छह से अधिक है, उन्हें अपना भोजन आपस में बांटना पड़ेगा। जिंबाब्वे में 40 लाख लोगों में हर महीने राशन बांटा जाता है। उम्मीद की जाती है कि वहां इससे करीब 51 लाख लोगों की भूख मिट जाएगी। ये 51 लाख लोग, जिंबाब्वे की लगभग आधी आबादी हैं।

दरअसल, इस स्थिति के लिए विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र की दुर्दशा सबसे बड़ी वजह है। लेकिन इसके लिए विकसित देश भी कम जिम्मेदार नहीं हैं। विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र को मिल सरकारी सहायता में कटौती करने के उनके दबाव के कारण न सिर्फ एक बड़े मानव समुदाय का खेती-किसानी से मोहभंग हुआ है, बल्कि जो लोग अब भी कृषि कार्य से जुड़े हैं, वे कर्ज और महंगाई की मार से त्रस्त हो आत्महत्याएं कर रहे हैं। आर्थिक मंदी ने खाद्यान्न सुरक्षा की तरफ से हमारा ध्यान हटा दिया है, लेकिन यदि संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट पर दुनिया भर की सरकारों को गौर नहीं किया, तो अगले पचास वर्षों में करीब नौ सौ करोड़ लोगों की विश्व आबादी का पेट भरना मुश्किल हो जाएगा।

विकसित देशों द्वारा अपने औद्योगिक क्षेत्रों को दिए जा रहे बेल आउट पैकेज उन्हें फौरी राहत तो दे सकते हैं, लेकिन ठोस नीति के बगैर दीर्घकाल में वे उन्हीं देशों में मानव कल्याण के बेहतर विकल्प नहीं हो सकते। विश्व खाद्य कार्यक्रम एजेंसी से जुड़े लोगों के मुताबिक, अमेरिका और यूरोपीय देश मंदी से निपटने के लिए जितनी राशि के राहत पैकेज घोषित कर रहे हैं, उसका केवल एक फीसदी इस एजेंसी के पूरे बजट की व्यवस्था कर सकती है। लेकिन सवाल प्राथमिकताओं का है। वॉल स्ट्रीट में आई सुनामी से लोगों को बचाने की कोई भी कवायद अपनी जगह ठीक ही कही जाएगी। लेकिन हमें उन जगहों को भी नहीं भूलना चाहिए, जहां कोई स्ट्रीट ही नहीं है।

(लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं)

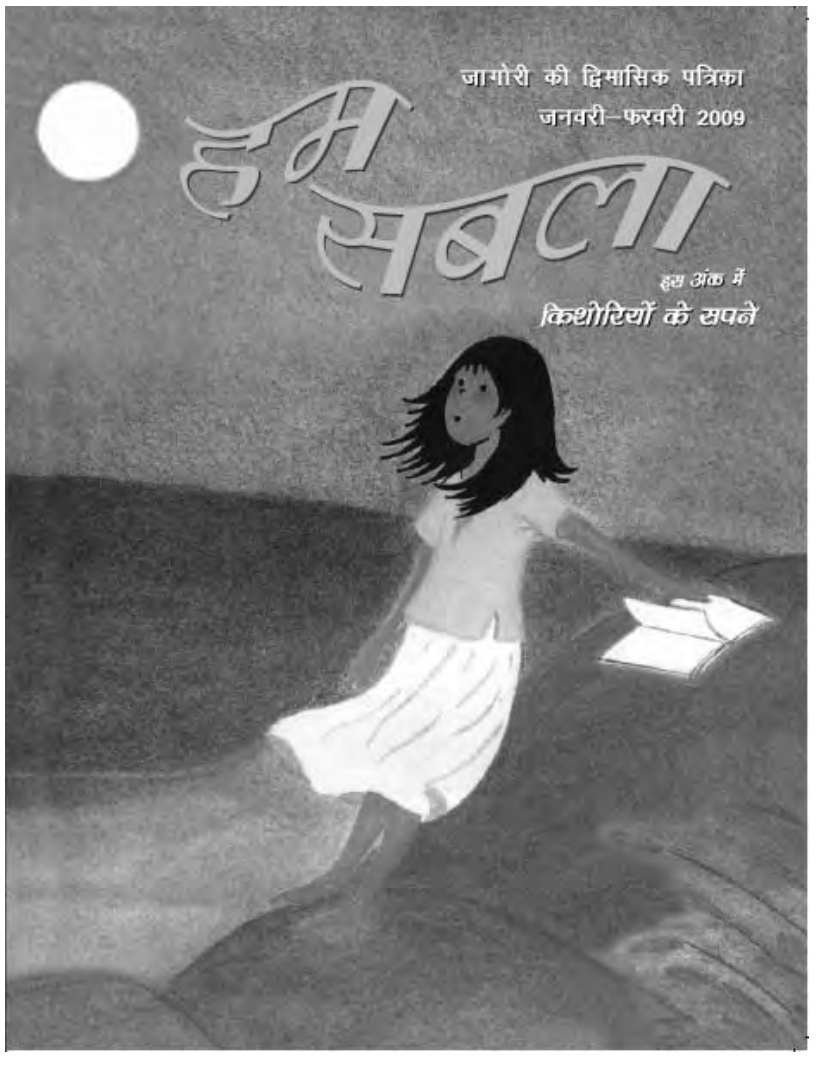

हमारा नया प्रकाशन
हम सबला पत्रिका

हम सबला का अगला अंक घरेलू हिंसा विशेषांक होगा।
इस विषय पर अपने लेख व कविताएं हमें भेज सकते हैं।

JAGORI

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें -
जागोरी बी-114 शिवालिक मालविया नगर, नई दिल्ली-110017
फ़ोनः 26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org